

सत्य और अहिंसा ही वह शक्ति है, जो बिना हथियार के भी दुनिया बदल सकती है।
राष्ट्रपिता महात्मा गांधी व लाल बहादुर शास्त्री की जयंती पर
उन्हें शत-शत नमन।
उन्होंने हमें सिखाया कि बदलाव की शुरुआत दूसरों से नहीं,
खुद से होती है।
आइए, इस गांधी और शास्त्री जयंती पर हम सत्य बोलने, अहिंसा अपनाने,
स्वच्छता रखने और देशहित में अपना योगदान देने का
संकल्प लें।
सत्य - अहिंसा - स्वच्छता - सद्भाव
महात्मा गांधी जयंती की हार्दिक शुभकामनाएं।



भ्रष्टाचार और फासी शक्तियों के विरुद्ध शंखनाद

नवयुग

R.N.I. No. 15990/67

संस्थापक संपादक: स्व. श्री चिरंजीव जोशी 'सरोज'

हिन्दी पाक्षिक

वर्ष-60 अंक-8

जयपुर, बुधवार, 30 सितम्बर, 2026

मूल्य- 10 रुपए पृष्ठ- 8

अंतर्विरोधों के बीच डामगाती विदेश नीति

भारत की विदेश नीति पर
विनोद जोशी की का विश्लेषण

भारत की समकालीन विदेश नीति रणनीतिक स्वायत्तता और बहु-संरक्षण के दावों के बीच एक गहरे संरचनात्मक अंतर्विरोध से जूझ रही है। वैश्विक शक्ति संतुलन के तेजी से बदलते दौर में नई दिल्ली ने सभी प्रमुख शक्तियों के साथ एक साथ सौदेबाजी करने की जो रणनीति अपनाई, वह व्यावहारिक धरातल पर कई मोर्चों पर रणनीतिक लाचारी में तब्दील होती दिख रही है।

ऊर्जा सुरक्षा की बाध्यताएं, पश्चिम एशिया का सुलगता संघर्ष, महाशक्तियों की खींचतान, उपमहाद्वीप में संप्रभुता से जुड़े समझौते और कूटनीति के शीर्ष स्तर पर राजनीतिक दूरदर्शिता के बजाय नौकरशाही जकड़न ने भारतीय विदेश नीति को एक ऐसे चौराहे पर ला खड़ा किया है जहाँ राष्ट्रीय हितों की रक्षा से अधिक ध्यान संकट प्रबंधन पर केंद्रित नजर आता है।

ऊर्जा सुरक्षा का कक्रव्यूह

वाशिंगटन और मॉस्को के बीच पिसती रणनीति
भारत अपनी कच्चे तेल की

भारत की रणनीतिक स्वायत्तता और नेतृत्वक्षमता पर प्रश्नचिन्ह!



जरूरतों का 85 प्रतिशत से अधिक हिस्सा आयात करता है। ऊर्जा सुरक्षा किसी भी संप्रभु राष्ट्र के आर्थिक स्थायित्व और विकास दर की रीढ़ होती है, लेकिन पिछले कुछ वर्षों में भारत की ऊर्जा कूटनीति दीर्घकालिक राष्ट्रीय हितों के बजाय महाशक्तियों के प्रतिबंधों और भू-राजनीतिक दबावों के अनुसार दिशा

बदलती रही है।

ईरान से किनारा और सस्ते तेल की बलि

भारत और ईरान के संबंध ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भू-रणनीतिक रूप से बेहद गहरे रहे हैं। ईरान भारत को बेहद अनुकूल शर्तों पर कच्चा तेल उपलब्ध कराता था—

जिसमें 60 से 90 दिनों की क्रेडिट अवधि, मुफ्त बीमा और रुपये-रियाल में भुगतान की सुविधा शामिल थी। इससे भारत का विदेशी मुद्रा भंडार सुरक्षित रहता था और रिफाइनरियों की परिवहन लागत न्यूनतम रहती थी।

2018-19 में जब डोनाल्ड ट्रंप प्रशासन ने ज्वाइंट कॉम्पिहेंसिव प्लान

ऑफ एक्शन से एकतरफा बाहर निकलकर ईरान पर काउंटरिंग अमेरिकाज एडवर्सरीज सैंक्शंस एक्ट के तहत कड़े आर्थिक प्रतिबंध लगाए, तब भारत ने अमेरिकी दबाव के आगे घुटने टेक दिए। मई 2019 तक भारत ने ईरान से तेल आयात घटाकर शून्य कर दिया। इससे रणनीतिक नुकसान यह हुआ कि

भारत ने रियायती दरों पर मिलने वाले सबसे भरोसेमंद तेल स्रोत को खो दिया।

चाबहार पर असर

प्रतिबंधों के डर से चाबहार बंदरगाह और इंटरनेशनल नॉर्थ-साउथ ट्रांसपोर्ट कॉरिडोर की गति धीमी पड़ गई, जिससे मध्य एशिया तक सीधी पहुंच का भारत का सपना कमजोर हुआ और ईरान तेजी से चीन के प्रभाव क्षेत्र (25-वर्षीय सामरिक समझौते) में चला गया।

अमेरिकी व्यापार समझौता याने महंगा तेल खरीदने की विवशता

ईरानी तेल छोड़ने के बाद भारत को वैकल्पिक स्रोतों की ओर मुड़ना पड़ा। ट्रंप प्रशासन के कार्यकाल में भारत पर अमेरिकी तेल और तरलीकृत प्राकृतिक गैस खरीदने का भारी दबाव बनाया गया। भारत और अमेरिका के बीच द्विपक्षीय व्यापार समझौते को लेकर लंबी बातचीतें चलीं, लेकिन भारत के कृषि व डेयरी क्षेत्र को खोलने से इनकार करने और बौद्धिक संपदा

शेष भाग पृष्ठ 2 पर

चुनाव आयोग और सर्वोच्च न्यायालय की निष्पक्षता पर संदेह: देश के लोकतांत्रिक ढांचे की विश्वसनीयता के लिए खतरनाक!

देश की राजनीति में बड़ी उथल-पुथल के संकेतों के बीच नवयुग का विशेष संपादकीय विनोद जोशी द्वारा

पिछले कुछ सालों से भारतीय न्यायालयों और चुनाव आयोग की निष्पक्षता पर कुछ अंगुलियां उठी रही हैं। भाजपा और प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के 2014 से शुरू हुए कार्यकाल में समय के साथ विरोध के स्वर धीरे-धीरे अब कोलाहल में बदलने लगे हैं। भाजपा एक राजनैतिक दल है और नरेंद्र मोदी उसके राजनैतिक चेहरे, इसलिए उनके दृष्टिकोण से यह सामान्य राजनैतिक मुद्दा भर है।



लेकिन, यदि हम इसी संदर्भ को सर्वोच्च-उच्च न्यायालयों और चुनाव आयोग की तरफ लेकर आएँ और इसका विश्लेषण करें तो विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र के हर आम नागरिक के माथे पर चिंता की कुछ लकीरें खींच ही देगा। यह स्वतंत्र भारत के इतिहास में पहला मौका है जब देश की दो सर्वोच्च संवैधानिक संस्थाएं विश्वास का संकट झेल रही हैं।

इतिहास के पन्नों में

ऐसा नहीं है कि स्वतंत्र भारत के इतिहास में न्यायपालिका और चुनाव आयोग पर अंगुली उठी ही नहीं, कई बार हुआ है, लेकिन वे घटनाएं इक्की-दुक्की रहीं और किसी सुसंगठित अभियान का हिस्सा नहीं थी। यह इस देश के लोकतंत्र की खूबसूरती है कि 25 जून 1975 को देश में आपातकाल लगाने के बाद भी

तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने जब 18 जनवरी 1977 को आम चुनाव की घोषणा की, तब सभी राजनैतिक कैदियों को रिहा कर दिया गया। मार्च 1977 में आम चुनाव हुए, इंदिरा गांधी की बड़ी हार हुई। वे खुद राय बरेली से संसदीय चुनाव हारीं। विपक्ष उन्हें तानाशाह कहता था, लेकिन आम चुनाव की निष्पक्षता पर रत्ती भर भी किसी को संदेह नहीं हुआ। यह इस देश में महात्मा गांधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, डॉ. राजेंद्र प्रसाद जैसे जननेताओं द्वारा रखी लोकतांत्रिक परम्पराओं से सींची हुई नींव की मजबूती की मिसाल थी। जिस राजनेता को सभी विपक्षी तानाशाह कहते थे, उसकी ईमानदारी और लोकतांत्रिक संस्थाएं के प्रति सम्मान और समर्पण का अनुपम उदाहरण था।

उस समय देश के सर्वोच्च न्यायालय के

मुख्यन्यायाधीश न्यायमूर्ति ए एन रे थे, उनकी नियुक्ति तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों की वरिष्ठता लांघकर हुई थी। उनकी नियुक्ति पर बहुत विवाद हुए, इंदिरा गांधी पर आरोप लगे। लेकिन, जब बात लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति निष्ठा की आई, तो वे खरे उतरे। 1977 में आम चुनावों के समय चुनाव आयोग के मुख्य इलेक्शन कमिश्नर टी. स्वामीनाथन थे, चुनाव उनके नेतृत्व में हुआ और तमाम शंकाओं के बीच उन्होंने निष्पक्ष चुनाव करवाने में कोई कोताही नहीं बरती। वे सत्तारूढ़ दल के साथ विपक्षी दलों का भी भरोसा जीतने में सफल रहे। बहुत अफवाहें थीं कि इंदिरा गांधी ने तत्कालीन सोवियत रूस से ऐसी स्याही मंगवाई है, जो अपने आप उड़ जाती है और वोट देने की मोहर कांग्रेस के चुनाव चिन्ह पर अपने आप लग जाती है। अफवाहें सिर्फ

शेष भाग पृष्ठ 2 पर

प्रथम पृष्ठ का शेष भाग... संपादकीय

अफवाहें रहीं, देश के लोकतंत्र ने अपनी विश्वसनीयता के झंडे दुनिया में गाड़े।

बात न्यायपालिका की!

अभी हाल ही में नोएडा की जिला कलेक्टर मेधा रूपम पर दिल्ली विश्वविद्यालय की छात्रा आकृति चौधरी पर अवैधानिक रूप से राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (एनएसए) लगाकर महीनों जेल में रखने का केस सामने आया था। इलाहाबाद हाईकोर्ट ने उस छात्रा को तत्काल रिहा कर मेधा रूपम पर 5 लाख रुपए नकद का जुर्माना लगाते हुए उनके सर्विस रिकॉर्ड में विपरीत नोट लगाने का आदेश दिया। मेधा रूपम पर लगाए गई जुर्माने तथा विपरीत नोट पर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति सतीश चंद्र शर्मा तथा एन के सिंह की बेंच ने बिना दूसरे पक्ष को सुने इस निर्णय पर स्थगन दे दिया। मेधा रूपम वर्तमान चुनाव आयोग प्रमुख ज्ञानेश कुमार की पुत्री हैं। सुप्रीम कोर्ट के ही एडवोकेट्स का आरोप है कि उस दिन न्यायमूर्ति सतीश चंद्र शर्मा की बेंच का रोटेशन नहीं था, लेकिन मुख्यन्यायाधीश ने रोस्टर बदल कर उन्हें यह केस दिया। पिछले सालों में चाहे राफेल डील पर निर्णय हो या बंगाल एस आई आर पर निर्णय या तृणमूल कांग्रेस चुनाव चिन्ह पर निर्णय..विवादित रहे हैं। न्यायपालिका से जुड़े लोगों ने बहुत से निर्णयों पर आपत्ति दर्ज की है। यह सभी को मालूम है कि कॉकरोच जनता पार्टी का गठन भी मुख्यन्यायाधीश महोदय की युवाओं पर की गई एक आपत्तिजनक टिप्पणी से ही हुआ है। हालांकि यह टिप्पणी देखा जाए तो मृतप्राय हो रही देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रति संजीवनी बूटी साबित हुई, लेकिन ऐसी टिप्पणियां निश्चितरूप से

न्यायपालिका के खुद के सम्मान के लिए थी नहीं हैं।

संवैधानिक संस्थाएं संदेह के घेरे में?

चुनाव आयोग के विरुद्ध अभी तक जितने वाद दायर हुए हैं, उनमें निर्णयों पर शक की सुई लगातार कुछ इशारा करती रही है। बंगाल की मतदाता सूची पुनरीक्षण में 67 लाख लोगों के नाम काट दिए गए। चुनाव से पहले तक सम्पूर्ण तंत्र सिर्फ 16 लाख अपीलों का निपटारा कर सका था। मुख्य न्यायाधीश की पीठ ने बाकी मतदाताओं के लोकतांत्रिक अधिकारों की रक्षा किए बिना चुनाव आयोग को चुनाव कराने की अनुमति दी। यदि सिर्फ एक प्रदेश में 50 लाख से अधिक मतदाताओं के अधिकारों की रक्षा को देश का सर्वोच्च न्यायालय कोई अहमियत नहीं देता तो निश्चितरूप से यह लोकतांत्रिक व्यवस्था और संवैधानिक संस्थाओं के प्रति आम नागरिक को निराश और क्रोधित होने का अधिकार है। सर्वोच्च न्यायालय और चुनाव आयोग इस देश के संविधान से ऊपर नहीं हैं, उनका संवैधानिक दायित्व है कि वे संविधान की सीमाओं को समझें और उसे लांघने का साहस न करें। पेपर लीक प्रकरणों को लेकर हुआ आंदोलन इस बात का प्रत्यक्ष गवाह है कि नईपीढ़ी न सिर्फ समझदार है, बल्कि सड़ी-गली व्यवस्था से लड़ने का साहस भी रखती है।

चुनाव आयोग का ताजा विवाद

एक रिपोर्ट के अनुसार, 10 महीनों के भीतर दो चुनाव आयुक्तों ने कम से कम 14 बार चुनाव आयोग के फैसलों और आदेशों पर अपनी आपत्तियां दर्ज कराई हैं। आरोप है कि कई महत्वपूर्ण फैसले उनकी जानकारी या सहमति के बिना लिए गए। नए मतदाताओं के

पंजीकरण के लिए इस्तेमाल होने वाले फॉर्म 6 में कथित तौर पर एक नया खंड जोड़ा गया था, जिसे चुनाव आयुक्त संधू ने अनधिकृत और अवैध बताया था और इसे हटाने की मांग की थी। दोनों चुनाव आयुक्तों ने मतदाता सूची सॉफ्टवेयर और मतदाता डेटा के प्रबंधन को केंद्रीकृत किए जाने पर चिंता व्यक्त की है। उनका मानना है कि इससे राज्य स्तर के अधिकारियों की भूमिका कम होगी और यह व्यवस्था में संभावित छेड़छाड़ की गुंजाइश पैदा कर सकता है।

रिपोर्टों के अनुसार, चुनाव आयुक्तों ने मतदाता सूची से जुड़े आईटी सिस्टम में बदलावों को लेकर कैबिनेट सचिव को भी अलग से पत्र लिखकर अपनी चिंताओं से अवगत कराया था। वहीं मतदाताओं के नाम हटाए जाने के मामलों में तार्किक विसंगति के आधार पर (जैसे माता-पिता और बच्चों की उम्र में 15 साल से कम का अंतर) बिना जांच के नाम हटाए जाने के आरोप लगे हैं, जिसकी पूर्व केंद्रीय मंत्री आर.के. सिंह जैसे नेताओं ने कड़ी आलोचना की है। यह विवाद चुनाव आयोग के भीतर एक अभूतपूर्व स्थिति को दर्शाता है जहां बहुमत (दो आयुक्त) फैसलों से असहमत है और उन्हें दरकिनार किए जाने का आरोप लगा रहा है। इस विवाद ने चुनाव प्रक्रिया की निष्पक्षता, मतदाता सूची की अखंडता, और चुनाव आयोग की कार्यप्रणाली की पारदर्शिता पर गंभीर सवाल खड़े कर दिए हैं। इन आरोपों के संदर्भ में यदि पूरे चुनाव आयोग की कार्यशैली का विश्लेषण किया जाए, सिर्फ शक नहीं बल्कि स्पष्ट संदेश निकलता है कि चुनाव आयोग का संचालन कहीं न कहीं किसी एक राजनैतिक तंत्र को फायदा पहुंचा रहा है।

संदेह के बादल छंटने से ही निदान

सारे विपक्षी दल और कॉकरोच जनता पार्टी आंदोलन की तैयारी कर रही हैं। विरोध की रूपरेखा मुंबई से लेकर नई दिल्ली तक अपना रास्ता खुद चुन रही है। मोदी सरकार यदि इस मुगालते में है कि किसी पक्ष से बात कर किसी तरह से मामले का पटाक्षेप हो जाएगा, तो यह उनके लिए खतरे की घंटी है! आन्दोलन में पक्ष इतने होने जा रहे हैं कि स्थिति को संभालने में भाजपा का राजनैतिक तंत्र सक्षम होना दूर, बीच में आ सकने की स्थिति में नहीं होगा। सर्वोच्च न्यायालय को पहल करनी ही होगी। उन्हें याद रखना होगा कि उनकी एक नादानी में की गई टिप्पणी ने बहुत बड़ा आंदोलन खड़ा करवा दिया था..केंद्र सरकार को झुकना पड़ा था। अब इन मुद्दों पर अनिर्णय या बीच में आने की अनिच्छा पूरी लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

और अब नया कारनामा

आज की खबर है कि जिन राज्यों में एस आई आर प्रक्रिया पूरी हो गई है, वहां पर चुनाव आयोग की वेबसाइट से यह फॉर्म हटा लिया गया है, अर्थात अब किसी को अपने 20-30 पहले मरे माता-पिता, दादा-दादी का नाम मतदाता सूची में ढूंढना नहीं पड़ेगा। लेकिन जिन राज्यों में एस आई आर चल रहा है, वहां की वेबसाइट्स पर फॉर्म अभी भी है। याने कुछ के लिए हटा लिया और कुछ पर लागू है..यह सब भी चुपचाप किया गया है। सवाल उठेगा यदि फॉर्म-6 में कुछ बदला गया था, तो पहले मना क्यों किया? और फिर फॉर्म हटाने की कार्यवाही चोरों के तरह क्यों?

प्रथम पृष्ठ का शेष भाग --अंतर्विरोधों के बीच डाम्पगाती विदेश नीति

अधिकारों पर मतभेदों के चलते यह समझौता कभी सिरे नहीं चढ़ सका।

इसके जवाब में अमेरिका ने भारत का सामान्यीकृत प्राथमिकता प्रणाली दर्जा छीन लिया। व्यापारिक रियायतें गंवाने के बावजूद, ट्रंप को संतुष्ट रखने और दंडात्मक टैरिफ से बचने के लिए भारत ने अमेरिका से रिकॉर्ड मात्रा में महंगा कच्चा तेल और गैस खरीदना शुरू किया। भौगोलिक दूरी के कारण अमेरिकी तेल की दुलाई लागत खाड़ी देशों की तुलना में काफी अधिक थी, जिससे भारतीय रिफाइनरियों और आम उपभोक्ताओं पर अतिरिक्त आर्थिक बोझ पड़ा।

रूसी तेल-अल्पकालिक मुनाफा बनाम दीर्घकालिक सीमाएं

रूस-यूक्रेन युद्ध (2022) के बाद पश्चिमी प्रतिबंधों के चलते जब रूस ने भारी छूट पर कच्चा तेल बेचना शुरू किया, तो भारत ने अपनी खरीद में भारी बढ़ोतरी की। एक समय पर भारत के कुल तेल आयात में रूस की हिस्सेदारी 1-2 प्रतिशत से बढ़कर 40 प्रतिशत के पार पहुंच गई। इसे भारतीय कूटनीति की बड़ी जीत के रूप में प्रचारित किया गया, लेकिन सतह के नीचे इस व्यवस्था की गंभीर सीमाएं और जोखिम उजागर हुए-

पेमेंट सेटलमेंट का संकट

पश्चिमी देशों द्वारा स्विफ्ट प्रणाली से रूस को बाहर करने के बाद भुगतान तंत्र चरमरा गया। भारतीय रुपये में व्यापार करने का तंत्र विफल रहा क्योंकि रूस के पास अरबों रुपये जमा हो गए, जिनका वह उपयोग नहीं कर सका और उसने रुपये में अतिरिक्त भुगतान लेने से इनकार कर दिया।

लॉजिस्टिक्स और प्रतिबंधों का शिकंजा

अमेरिका और यूरोपीय संघ द्वारा लगाए गए प्राइस कैप, टैरिफ पर प्रतिबंध और सेकेंडरी सैंक्शंस के खतरे के कारण भारतीय सरकारी व निजी रिफाइनरियों को रूसी तेल की खरीद सीमित करनी पड़ी। जब छूट घटकर 2-4 डॉलर प्रति बैरल रह गई, तब रूसी तेल का आर्थिक आकर्षण भी क्षीण हो गया।

मॉस्को-बीजिंग धुरी

भारत तेल खरीदकर रूस की अर्थव्यवस्था को नकदी तो उपलब्ध कराता रहा, लेकिन रूस को चीन के करीब जाने से रोकने में असमर्थ रहा। भारत अंततः वाशिंगटन के प्रतिबंधों के डर और मॉस्को की सीमित आपूर्ति क्षमता के बीच फंसा रह गया।

पश्चिम एशिया का दलदल

अमेरिका-इजराइल और ईरान के बीच असमंजस

पश्चिम एशिया में भारत दशकों से डी-हाइफनेशन की नीति पर चलता रहा है—अर्थात बिना किसी तीसरे देश के चश्मे के प्रत्येक साझेदार के साथ स्वतंत्र संबंध रखना। 7 अक्टूबर 2023 के बाद इजराइल, हमास, हिजबुल्लाह और ईरान के बीच छिड़े संघर्ष ने इस नीति के खोखलेपन को उजागर कर दिया है।

बहु-ध्रुवीय संतुलन की विफलता

भारत पश्चिम एशिया में एक साथ तीन परस्पर विरोधी खेमों को साधने की कोशिश करता रहा है—

इजराइल- रक्षा तकनीक, निगरानी उपकरण और रणनीतिक साझेदारी।

सुन्नी अरब राजतंत्र (सऊदी अरब, यूएई)- ऊर्जा आपूर्ति, 90 लाख प्रवासी भारतीय और निवेश।

शिया ईरान- मध्य एशिया तक कनेक्टिविटी और क्षेत्रीय सुरक्षा संतुलन।

सच्चाई यह है कि युद्ध के चरम पर भारत इनमें से किसी भी पक्ष को पूरी तरह आश्वस्त करने में विफल रहा। इजराइल के साथ अत्यधिक वैचारिक और रक्षात्मक निकटता प्रदर्शित करने से भारत की पारंपरिक फिलिस्तीन समर्थक छवि को गहरा धक्का लगा, जिससे ग्लोबल साउथ और अरब दुनिया में भारत की नैतिक स्थिति कमजोर हुई। दूसरी ओर, ईरान के संदर्भ में अमेरिकी रुख का पालन करने के कारण तेहरान के सत्ता प्रतिष्ठान में नई दिल्ली की विश्वसनीयता शून्य के करीब पहुंच गई।

जब अमेरिका, इजराइल और यूएई के साथ मिलकर आई2यू2 और जी-20 के दौरान इंडिया-मिडिल ईस्ट-यूरोप इकोनॉमिक कॉरिडोर की घोषणा की गई, तो इसे ऐतिहासिक कदम बताया गया। लेकिन जमीनी हकीकत यह है कि युद्ध के भड़कते ही यह ठंडे बस्ते में चला गया। भारत खाड़ी में न तो शांति स्थापित करने वाला मध्यस्थ बन सका और न ही अपने रणनीतिक निवेशों की सुरक्षा सुनिश्चित कर पाया।

पाकिस्तान नीति और अमेरिकी हस्तक्षेप पर मूक सहमति

भारत की पाकिस्तान नीति का केंद्रीय स्तंभ 1972 का शिमला समझौता और 1999 का लाहौर घोषणापत्र रहा है, जिसके तहत दोनों देश इस बात पर सहमत हुए थे कि

कश्मीर सहित सभी द्विपक्षीय मुद्दों का समाधान बिना किसी तीसरे पक्ष के हस्तक्षेप के निकाला जाएगा।

वाशिंगटन की मध्यस्थता का साया

पिछले वर्षों में यह सिद्धांत कई मौकों पर व्यावहारिक रूप से कमजोर होता दिखा। डोनल्ड ट्रंप ने अपने राष्ट्रपति कार्यकाल के दौरान बार-बार सार्वजनिक मंचों पर यह दावा किया कि उन्हें कश्मीर मुद्दे पर भारत और पाकिस्तान के बीच मध्यस्थता करने के लिए कहा गया था या वे ऐसा करने को तैयार हैं।

आधिकारिक इनकार बनाम रणनीतिक चुप्पी

यद्यपि भारतीय विदेश मंत्रालय ने औपचारिक बयानों में इन दावों को खारिज किया, लेकिन वाशिंगटन के शीर्ष नेतृत्व के सामने इस तरह के दावों पर कड़ा राजनयिक प्रतिरोध दर्ज कराने में सरकार हिचकिचाती रही।

बालाकोट और 2019 का तनाव

फरवरी 2019 में बालाकोट एयरस्ट्राइक और उसके बाद विंग कमांडर अभिनंदन वर्धमान की रिहाई के घटनाक्रम में अमेरिका के तत्कालीन विदेश मंत्री माइक पोम्पियो और राष्ट्रपति ट्रंप ने जिस तरह से पर्दे के पीछे से तनाव घटाने का श्रेय लिया, उसने भारत के पूरी तरह द्विपक्षीय होने के दावे पर सवाल खड़े किए।

पाकिस्तान की रणनीतिक प्रासंगिकता

भारत के तमाम कूटनीतिक प्रयासों के

बावजूद अमेरिका ने पाकिस्तान को पूरी तरह दरकिनार नहीं किया। अफगानिस्तान से अमेरिकी सैनिकों की वापसी के दौरान पाकिस्तान की जरूरत, एफ-16 लड़ाकू विमानों के रखरखाव के लिए बाइडन प्रशासन द्वारा पैकेज की मंजूरी और आईएमएफ बेलआउट में अमेरिकी हरी झंडी इस बात का प्रमाण है कि भारत अमेरिका को पाकिस्तान से संबंध विच्छेद करने के लिए बाध्य नहीं कर सका। भारत इस निरंतर हस्तक्षेप और समानांतर कूटनीति को चुपचाप सहन करने पर विवश रहा।

नीति निर्माण का संकट: राजनेता बनाम सरकारी बाबू की कार्यशैली

भारतीय विदेश नीति के मौजूदा संकट का एक बड़ा हिस्सा उस नेतृत्व शैली से जुड़ा है जो पिछले एक दशक में विदेश मंत्रालय के भीतर हावी हुई है। विदेश मंत्री एस. जयशंकर एक कुशल, अनुभवी और तीक्ष्ण राजनयिक रहे हैं, लेकिन एक सफल सिविल सर्वेंट और एक दूरदर्शी राजनेता के बीच का अंतर अब भारतीय विदेश नीति के परिणामों में साफ नजर आ रहा है।

टेक्नोक्रेट बनाम राजनीतिक दूरदर्शिता

एक पारंपरिक राजनेता विदेश नीति को जनभावनाओं, राष्ट्रीय विचारधारा, दीर्घकालिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण और रणनीतिक जोखिम लेने की क्षमता के आधार पर संचालित करता है। इसके विपरीत, एक सरकारी बाबू या करियर डिप्लोमैट प्रक्रिया, तात्कालिक युक्ति और आदेशों के क्रियान्वयन में माहिर होता है।

पश्चिम की राजनीति पर नवयुग की विशेष टिप्पणी

समाजवाद को सकारात्मक नजरिए देखने वाले नौजवान अमेरिकियों की संख्या बढ़ती जा रही है। सोशल मीडिया पर पूंजीवाद बनाम समाजवाद की बहस व्यापक चर्चा का विषय बनी हुई है। यह संकेत है कि कम्युनिस्ट और समाजवादी विचारधाराएं, जिन्हें कभी अमेरिका में कलंकित और वर्जित माना जाता था, अब हाशिये से निकलकर मुख्यधारा की चेतना में प्रवेश करती दिख रही हैं- विशेषकर युवा पीढ़ी के बीच।

यूरोपीय राजनीति की खिसक रही भू-गर्भीय परतों से उठते भूकंपीय झटकों का सितंबर में जर्मनी शिकार बना। पहले हफ्ते में सैक्सनी-अनहाल्ट पहला जर्मन प्रांत बना, जहां नव-नाजीवादी ऑल्टरनेटिव्स फॉर ड्यूशलैंड (एएफडी) पार्टी प्रादेशिक चुनाव जीतने में कामयाब रही (वहां वह लगभग 44 फीसदी वोट पाकर सबसे बड़ी पार्टी बनी)। यह किसी आम स्थिति में अचानक पैदा हुई विसंगति नहीं थी। बल्कि यह एक दशक से अधिक समय से उभरते रूझान का ठोस रूप ग्रहण कर लेना भर था। इस बात की पुष्टि 20 सितंबर को जर्मनी के मेक्लेनबर्ग-वेस्टर्न पोमेरेनिया प्रांत में एएफडी की जीत से हुई। वहां वह 38 प्रतिशत से अधिक वोटों के साथ पहले स्थान पर रही।

उसी रोज जर्मनी की राजधानी बर्लिन में एक दूसरे किस्म का सियासी भूकंप आया। वहां डाई लिंके (द लेफ्ट) पार्टी सबसे आगे रही, जिसे पश्चिमी मीडिया धुर-वामपंथी बताता है। इन तीन नतीजों ने यह साफ कर दिया है कि जर्मनी की राजनीति तेजी से दक्षिण एवं वाम की 'चरम' धुरियों के बीच बंटती जा रही है। इस तरह सेंटर राइट-क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी (सीडीयू) और सेंटर लेफ्ट-सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (एसपीडी) के बीच सत्ता की अदला-बदली का जारी लगभग आठ दशक से जारी खेल अब खत्म हो रहा है। उचित ही इसे जर्मन राजनीति में मध्य मार्ग के विलोप के रूप में देखा गया है।

और यह सिर्फ जर्मनी का रुझान नहीं है। वैसे तो यह ट्रेड चुनावी लोकतंत्र वाले तमाम देशों में उभरा है, लेकिन पश्चिमी देशों में इस नई राजनीतिक परिघटना की खास झलक देखी जा सकती है। कुछ महीनों के बाद इस रुझान की पुष्टि संभवतः फ्रांस में भी होगी, जहां अगले साल होने वाले राष्ट्रपति चुनाव में मुख्य गोलबंदी धुर वामपंथी नेता ज्यां ल्यूक मेलेन्शॉ और धुर दक्षिणपंथी नेता मेरी ली पेन के बीच हो रही है।

यह घटनाक्रम आने वाले वक्त में संभावित राजनीतिक टकराव का संकेत है। डाई लिंके की जीत और मेलेन्शॉ को मिल रही लोकप्रियता दुनिया में नए तेवर वाले वामपंथ के उदय की मिसाल हैं। और ऐसे संकेत सिर्फ यूरोप तक सीमित नहीं हैं। डाई लिंके की जीत के सिलसिले में यह बात सामने आई कि इस पार्टी ने बर्लिन में अपने चुनावी अभियान को न्यूयॉर्क के मेयर जोहरान ममदानी से सीख लेते हुए डिजाइन किया। बर्लिन में डाई लिंके का चेहरा तुर्किश मूल की सोशललिस्ट एलीफ एराल्प हैं। उनकी टीम ममदानी के प्रचार अभियान का अध्ययन करने न्यूयॉर्क गई। वहां से वह ये सबक लेकर लौटी कि बिखरे हुए अनगिनत मुद्दों को उठाने के बजाय दो या तीन ऐसे मुद्दे लिए जाएं, जिनकी वजह 'लोगों की रात की नींद उड़ी रहती है'।

न्यूयॉर्क की तरह ही बर्लिन में भी नवोदित लेफ्ट ने मकान किराये को अपना केंद्रीय मुद्दा बनाया। साथ में रोजमर्रा की चीजों की महंगाई और परिवहन पर ध्यान केंद्रित किया गया। उसके साथ हज़ारों स्वयंसेवकों को संगठित किया गया, ताकि वे घर घर जाकर चर्चा कर सकें। और उसका असर हुआ- ठीक न्यूयॉर्क की तरह। अब एराल्प बर्लिन की मेयर कार्यालय के दरवाजे तक पहुंच चुकी हैं।

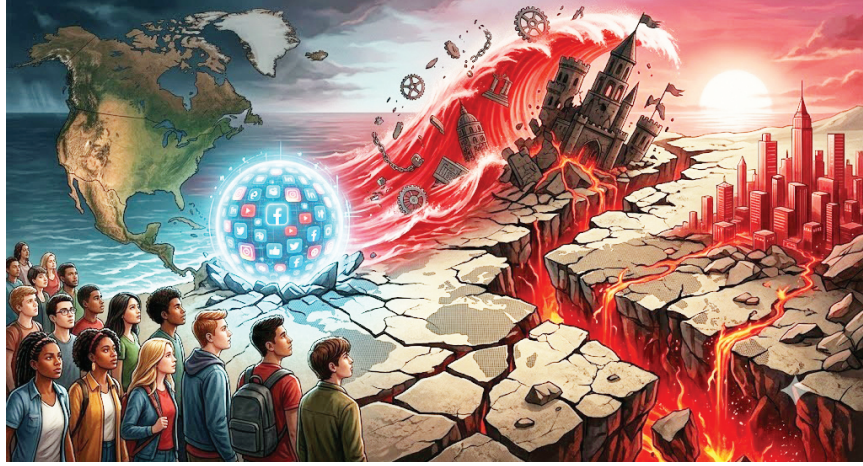
एक जर्मन विश्लेषक ने लिखा है- यह तथ्य कि पूंजीवादी विरोधी वामपंथ ने बर्लिन में जीत हासिल की है, पुष्टि करता है कि उदारवादी (लिबरल) और मध्यमार्गी (सेंटरिस्ट) विकल्पों का पतन और बाज़ार

लोकतंत्र का ढहना जारी है। वह पार्टी सिस्टम ढह रहा है, जो नव-उदारवाद के दौरान एक ही केंद्र-पूंजी से नियंत्रित रहा, भले दिखावटी तौर पर कई पार्टियों के रूप में उसके अनेक चेहरे सामने रहे हों।

मुद्दों पर उसे सीधे चुनौती देने से वे बचते रहे। उसी का नतीजा अब उनका खुद हाशिये पर चले जाना और उससे पैदा हुए खालीपन को भरने के लिए नए तेवर वाले वामपंथ का उभरना है।

अमेरिका-यूरोप में वामपंथ की वापसी, दक्षिणपंथ पर खतरा!

राजनीति करवट ले रही है, बड़े भूकंप की संभावना बढ़ी!



गुजरे डेढ़ दशक में दुनिया के बहुत बड़े हिस्से में धुर-दक्षिणपंथ का बढ़ना सबसे मजबूत राजनीतिक परिघटना रही है। ऐसा उन विशाल निराश समूहों की प्रतिक्रिया से संभव हुआ, जिन्होंने नव-उदारवादी भूमंडलीकरण के विनाशकारी परिणामों को झेला और एक मुकाम आकर उसे टुकराना शुरू किया। अर्थव्यवस्था का उत्तरोत्तर वित्तीयकरण, वेतन की अस्थिरता, बेरोजगारी, आवास का दुर्लभ होना, स्वास्थ्य सेवाओं की महंगाई, शिक्षा का व्यापारीकरण, आम इन्फ्रास्ट्रक्चर का क्षय-आदि के कारणों से उपजे जन असंतोष का लाभ धुर दक्षिणपंथी दलों ने उठाया। किसी 'आंतरिक शत्रु' के खिलाफ नफरत भरे अभियान चलाना, काल्पनिक प्रभु वर्ग (मोटे तौर पर पहले सत्ता से लाभान्वित रहे समूहों) को तमाम समस्याओं के लिए जिम्मेदार ठहराना, अयथार्थ समाधान पेश करना-आदि ऐसा तरीका रहा है, जिसे लगभग हर देश में उन दलों ने अपनाया है। इनकी बदौलत धुर-दक्षिणपंथियों को कामयाबी मिली है।

उन्हें यह सफलता इसलिए भी मिली, क्योंकि पारंपरिक वामपंथ ने नव-उदारवाद के हाथों अपनी हार को स्वीकार कर लिया। वे दल बाजार, बड़ी कंपनियों, और अंतरराष्ट्रीय पूंजी के समन्वित हमलों के आगे झुक गए। उन्होंने बिना आलोचनात्मक रुख अपनाए उस एजेंडे को स्वीकार कर लिया, जो शासक वर्ग उनके लिए तैयार किया था। मसलन, पहचान आधारित मुद्दों और वोक कल्चर के समर्थन में उन्होंने अपना सारा जोर लगाया, जबकि आम जन के रोजमर्रा के सवालों से उन्होंने नेता तोड़ लिया।

ट्रेड यूनियनों का बदलाव के बड़े सपनों को छोड़ देना, वर्ग-आधारित पार्टियों का विघटन और वर्ग चेतना को आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी से उनका मुंह मोड़ लेना-ये सब इसी दौर की कहानियां हैं। इस दौर में पूंजी बनाम श्रम की बहस को हाशिये में चले जाने दिया गया और यह शिक्षा नजरअंदाज दी गई कि पूंजी का बेलगाम संकेंद्रण धन उत्पन्न करने के अन्य दो स्रोतों-प्रकृति और श्रम-को नष्ट कर देता है।

इसी दौर में धुर-दक्षिणपंथ समाधान बनकर उभरा। उसने मुसीबत के असली स्रोतों से ध्यान हटा कर अल्पसंख्यकों, प्रवासियों, या कम्युनिस्ट प्रतीकों को निशाने पर लिया। पश्चिमी देशों में पारंपरिक वामपंथ और मध्यमार्गी दलों ने इनमें से कुछ सवालों पर धुर-दक्षिणपंथ को अपनी मौन सहमति दी, जबकि कुछ

इस प्रक्रिया को फिलहाल अमेरिका भी साफ देखा जा सकता है। वहां नए वामपंथी तेवर की नुमाईशगी डेमोक्रेटिक सोशललिस्ट्स ऑफ अमेरिका (डीएसए) कर रहा है। हालांकि यह स्वायत्त राजनीतिक समूह है, लेकिन चुनावी सिस्टम की मजबूरियों के कारण वह डेमोक्रेटिक पार्टी के अंदर अपने को संगठित किए हुए है। इस समय जोहरान ममदानी डीएसए का सबसे प्रखर चेहरा हैं। लेकिन उसके अनेक चेहरे इस वर्ष डेमोक्रेटिक प्राइमरी (उम्मीदवार चुनने की प्रक्रिया) में कामयाब रहे, और तीन नवंबर को होने वाले मध्य-अवधि चुनावों में डेमोक्रेटिक उम्मीदवार के तौर पर मैदान में हैं। उनके नतीजों पर सबका ध्यान टिका हुआ है।

यह घटनाक्रम अमेरिका में आए एक बड़े बदलाव को जाहिर करता है। इस सिलसिले में ब्रिटिश अर्थशास्त्री जॉन रॉस की यह टिप्पणी काबिल-ए-गौर है:

पिछली बार जब किसी सोशललिस्ट उम्मीदवार को अमेरिकी चुनाव में गंभीरता से लिया गया, तो वह 1912 में था, जब यूजीन डेब्स को राष्ट्रपति पद के लिए 6 फीसदी वोट मिले। यह बहुत कम था, लेकिन नगण्य नहीं था। उसके बाद पहली बार हो रहा है, जब डीएसए चुनाव जीत रहा है। उनके सदस्य कांग्रेस में हैं। उन्होंने दो सीटें जीतीं। उन्होंने सीनेट के लिए डेमोक्रेटिक उम्मीदवारी हासिल की है। न्यूयॉर्क के मेयर ममदानी डीएसए के सदस्य हैं। यह पहली बार है कि जब उम्मीदवार खुले तौर पर समाजवादी के रूप में खड़े हो रहे हैं। इसका अपवाद सिर्फ बर्नी सैंडर्स हैं, जो डेमोक्रेटिक सोशललिस्ट हैं, लेकिन वे निर्दलीय के रूप में ही चुनाव लड़ते रहे।

अमेरिकी अखबार पढ़ें, तो लगता है वॉल स्ट्रीट जर्नल लगभग हर दिन डीएसए की निंदा करने वाला लेख छापता है, और न्यूयॉर्क टाइम्स आदि भी। और यह चौंकाने वाला है। यह तो शायद संवैधानिक भी न हो कि अमेरिकी कांग्रेस किसी विशिष्ट संगठन की निंदा करने के लिए मतदान करे, क्योंकि यह कहा जा सकता है कि यह अमेरिकी संविधान के प्रथम संशोधन के खिलाफ है, जो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार सुनिश्चित करता है। लेकिन ऐसा इसीलिए हुआ, क्योंकि अब मामला गंभीर है।

इसका मतलब यह नहीं है कि अमेरिका समाजवादी बनने जा रहा है। दुर्भाग्य से शायद हमारे जीवन काल में ऐसा नहीं होगा। यहां मतलब वास्तविक समाजवाद

से है- यानी उस अर्थ में, जिसमें अर्थव्यवस्था का अधिकांश हिस्सा राजकीय स्वामित्व में आ जाता है, आपके सामने औपचारिक समाजवादी समाज होता है, और श्रमिक वर्ग समाज में अग्रणी शक्ति होता है।

यहां जॉन रॉस ने कांग्रेस (अमेरिकी संसद) के जिस प्रस्ताव का जिक्र किया, वह निचले सदन हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव ने पिछले एक सितंबर को पारित किया। 192 के मुकाबले 220 मतों के बहुत से पारित इस प्रस्ताव में समाजवाद की निंदा की गई। डीएसए का इसमें नाम लेकर जिक्र किया गया। इसके अलावा हाल में अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और रिपब्लिकन पार्टी के नेता बार बार कम्युनिस्ट खतरे का जिक्र करते रहे हैं। उन्होंने डीएसए उम्मीदवारों का उल्लेख कर कहा है कि कम्युनिज्म हमारा दुश्मन है। बीते चार जुलाई को अमेरिकी स्वतंत्रता की 250वीं सालगिरह के मौके पर राष्ट्र के नाम संबोधन में ट्रंप ने एक चौथाई से ज्यादा समय कम्युनिस्ट खतरे के उल्लेख और कम्युनिज्म के कथित अत्याचारों की चर्चा में लगाया।

इसके बावजूद हकीकत यह है कि समाजवाद को सकारात्मक नजरिए देखने वाले नौजवान अमेरिकियों की संख्या बढ़ती जा रही है। सोशल मीडिया पर पूंजीवाद बनाम समाजवाद की बहस व्यापक चर्चा का विषय बनी हुई है। यह संकेत है कि कम्युनिस्ट और समाजवादी विचारधाराएं, जिन्हें कभी अमेरिका में कलंकित और वर्जित माना जाता था, अब हाशिये से निकलकर मुख्यधारा की चेतना में प्रवेश करती दिख रही हैं- विशेषकर युवा पीढ़ी के बीच। और अब बात चर्चा से आगे निकल कर यहां पहुंच गई है कि खुद को सोशललिस्ट बताने वाले उम्मीदवार चुनाव जीतने लगे हैं।

इस घटनाक्रम ने डीएसए की नीतियों और कार्यक्रम को चर्चा के केंद्र में लाया है। आम धारणा यही है कि डीएसए नॉर्डिक सोशल डेमोक्रेसी का अमेरिकी संस्करण है। नॉर्डिक मॉडल निजी स्वामित्व, प्रतिस्पर्धी बाजार, और बड़े निजी कॉरपोरेट्स को चुनौती नहीं देता। वह महज सामूहिक सौदेबाजी (यानी यूनियन अधिकारों) को मजबूत करने और उदार कल्याणकारी राज्य की धारणा पर आधारित है। नॉर्डिक मॉडल के तहत राज्य अधिक कर लगाता है, अधिक विनियमन करता है, और अधिक सार्वजनिक सेवाएं प्रदान करता है, लेकिन अर्थव्यवस्था का स्वामित्व और संचालन मुख्य रूप से निजी पूंजी ही करती है।

व्यवहार में डीएसए की राजनीति चाहे जो हो, अपने प्रोग्राम में वह इससे कहीं आगे गया है। उसका कार्यक्रम पूंजीवादी स्वामित्व को केंद्रीय समस्या मानता है। वह कंपनी संचालन, निवेश, संसाधन आवंटन आदि का दायित्व सार्वजनिक संस्थानों, श्रमिक संगठनों और लोकतांत्रिक निकायों की ओर ट्रांसफर करना चाहता है। संघीय स्तर पर रोजगार गारंटी, 32 घंटे का कार्य सप्ताह, पूर्ण वेतन के साथ पर्यटन अवकाश, व्यक्तिगत शुल्क के बिना सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा, प्री-स्कूल से विश्वविद्यालय तक मुफ्त शिक्षा, छात्र ऋणा की समाप्ति, किराया नियंत्रण, बड़े पैमाने पर सामाजिक आवास का निर्माण आदि उसके कार्यक्रम का हिस्सा हैं। संसाधन जुटाने के लिए वह वेल्थ टैक्स, कॉरपोरेट टैक्स की ऊंची दरें तथा उत्तराधिकार कर लगाने की मांग करता है।

डीएसए का राजनीतिक सुधार कार्यक्रम भी उतना ही व्यापक है। यह अमेरिकी सीनेट और इलेक्टोरल कॉलेज को समाप्त करने, अनुपातिक प्रतिनिधित्व लागू करने, बहुदलीय लोकतंत्र लागू करने, राष्ट्रपति पद और सुप्रीम कोर्ट का ढांचा फिर से तय करने, और कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को कहीं अधिक कड़े विधायी नियंत्रण के अधीन लाने आदि जैसी बात करता है।

अमेरिकी सिस्टम के भीतर से ऐसे सुधारों को लागू करवा पाना असंभव समझा जाता है। जबकि बाहरी जन हस्तक्षेप से सिस्टम को पलटना डीएसए की रणनीति का हिस्सा नहीं है। इसीलिए उसके कार्यक्रमों को अक्सर हवाई बताया जाता है।

Gen-Z के वोट पर ECINet की तलवार!

क्या चुनाव आयोग एक और बड़े आंदोलन को जन्म देगा?

मतदाता पुनरीक्षण के संदर्भ में एक रिपोर्ट

(रिपोर्ट GenZ को लेकर है, इसलिए तकनीकी शब्दावली के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया गया है - संपादक)

सन् 2029 के लोकसभा चुनाव तक भारत की जनरेशन-जेड यानी 35 वर्ष से कम उम्र की नौजवान पीढ़ी पर तलवार तय है। हां, हर घर-परिवार में 18-19, 20-24, 25-29 और 35 वर्ष से कम उम्र की नौजवान पीढ़ियों के असंख्य यूथ बिना वोट अधिकार के हो सकते हैं। कैसे, क्यों? इन लड़के-लड़कियों को न केवल Form-6 के बेहूदा, अनावश्यक सवालों के जवाब देने होंगे, बल्कि एसडीएम दफ्तरों, कैंपों, कर्मचारियों को बार-बार जवाब देना होगा। फॉर्म और चुनाव आयोग के सॉफ्टवेयर की कसौटियों में इन्हें मताधिकार के लिए लड़ना होगा। कर्मचारियों से बहस करनी होगी। नहीं तो चुनाव के समय घर बैठे रहना होगा।

आज किसी के पास उम्रवार राष्ट्रीय हिसाब नहीं है। चुनाव आयोग ने ऐसा डेटा सार्वजनिक नहीं किया है, जिससे पता चले कि देश भर के SIR में 18-19, 20-24, 25-29 या 30-35 वर्ष के कितने मतदाता draft rolls से बाहर हुए। मगर तथ्य है कि भारत की आबादी असाधारण रूप से युवा है। 2029 में 18-35 वर्ष की आबादी का मोटा demographic pool करीब 35-40 करोड़ हो सकता है। यह मतदाताओं की संख्या नहीं, आबादी का अनुमान है। मगर इसी से पैमाना समझिए। और यह मानना गलत नहीं होगा कि ये 35-40 करोड़ यूथ मोटामोटी फोन भी लिए हुए हैं। सोशल मीडिया से जुड़े हैं, अपनी राय रखते हैं। इसलिए 2029 की चुनावी राजनीति में जनरेशन-जेड केवल वोट नहीं, सत्ता और विपक्ष दोनों की खुरदबीन में रहने वाला विराट राजनीतिक वर्ग होगा।

इस वर्ग की पहली मुश्किल उम्र में ही लिखी हुई है। ध्यान रहे, 2029 के लोकसभा चुनाव का 35 वर्षीय व्यक्ति 1994 में पैदा हुआ होगा। वह 2002 में सिर्फ आठ साल का था। तीस साल वाला 1999 में पैदा हुआ था। पच्चीस साल वाला 2004 में और अठारह साल वाला 2011 में। मतलब 2029 की पूरी 18-35 वर्षीय चुनावी पीढ़ी का अपना नाम उस SIR voter list में हो ही नहीं सकता, जिसमें सन् 2002 का वोटर कार्ड कसौटी है। यही verification architecture का महत्वपूर्ण reference है।

चुनाव आयोग का SIR portal नागरिक को 2002/03 की last-SIR electoral roll में अपना अथवा अपने relative का नाम खोजने को कहता है। यहां तक निर्देश है कि एक spelling में नाम न मिले तो दूसरी spelling आजमाइए। दिल्ली में वर्तमान मतदाता का अपना नाम 2002 की सूची में न हो लेकिन माता-पिता का हो तो Enumeration Form में माता-पिता अथवा relative की पुरानी entry का विवरण दिया जाए। सोचें, डिजिटल इंडिया में 2029 का नौजवान अपने वोट की genealogy सन् 2002 के मां-बाप के voter record में तलाशे!

और यदि draft roll में नाम नहीं आया? तब eligible elector Form-6, declaration और supporting documents के साथ inclusion claim करे। यानी जिस शासन के पास नौजवान का Birth record है, Aadhaar है, स्कूल-कॉलेज का रिकॉर्ड है, PAN है, बैंक KYC है, मोबाइल है, ड्राइविंग

लाइसेंस है और जिसे सरकार DBT देने, टैक्स लेने या बैंक खाता authenticate करने में पहचानती है, उसी लोकतंत्र के सबसे बुनियादी अधिकार के वक्त नौजवान नागरिक पुराने voter roll में अपने मां-बाप को तलाशे और Form-6 भरकर फिर अपना क्लेम करे! तो यह लोकतंत्र है या यूथ पर तलवार लटका कर उससे खानदान का वैध बेटा-बेटी, बहू या नई पीढ़ी होने के प्रमाण मांगकर उसका मताधिकार तय करने



वाला मनमाना तंत्र?

दिल्ली के अनुभव से पैमाना समझें। लगभग 1.45 करोड़ pre-SIR electorate में करीब 47.156 लाख नाम draft roll में नहीं थे। इन्हें Absentee, Shifted, Duplicate और Deceased जैसी श्रेणियों में रखा गया। इसका अर्थ यह नहीं कि 47.156 लाख नागरिक स्थायी रूप से मताधिकार गंवा चुके हैं। Eligible voter inclusion claim कर सकता है। मगर असली सवाल है, इन 47-56 लाख में 18-19 साल वाले कितने हैं? 20-24 कितने? 25-29 और 30-35 कितने? चुनाव आयोग इसका उम्रवार हिसाब सार्वजनिक क्यों नहीं करता?

नौजवान की vulnerability बूढ़े मतदाता से अलग है। वह पढ़ाई के लिए घर छोड़ता है। नौकरी के लिए दिल्ली से गुरुग्राम, पुणे, बेंगलुरु जाता है। किराये का मकान बदलता है। शादी होती है। लड़की का घर-पता बदलता है। Aadhaar एक पते का, नौकरी दूसरे शहर में और voter registration तीसरी जगह का हो सकता है। यानी भारत की सर्वाधिक mobile आबादी वही है, जिसकी अपनी entry 2002 की सूची में हो ही नहीं सकती।

इसलिए यदि 2029 के 35.40 करोड़ के 18-35 demographic pool में सिर्फ एक प्रतिशत भी verification, mapping, shifting अथवा re-enrolment की समस्या में पड़े तो संख्या 35-40 लाख होती है। पांच प्रतिशत हुआ तो करीब दो करोड़। दस प्रतिशत हुआ तो साढ़े तीन-चार करोड़। यह भविष्य में काटे जाने वाले वोटों की भविष्यवाणी नहीं है। यह सिर्फ उस खतरे का गणित है, जिसमें मामूली error अथवा friction rate भी भारत जैसे देश में करोड़ों नागरिकों का सवाल बन जाता है।

और फिर सोचें, इस साजिश software की कसौटी कितनी फूलपूफ है? दिल्ली SIR में स्वयं Election Commissioner सुखबीर सिंह संधू को centralized software ने self name mismatch में flag कर दिया। वे उन 31.63 लाख दिल्ली मतदाताओं में थे, जिन्हें discrepancy अथवा दूसरे कारणों से

notice मिला। बाद में ERO ने उनकी entry verify करके valid की। मतलब सॉफ्टवेयर ने जब चुनाव आयुक्त को भी संदिग्ध बना दिया तो आम नौजवान की क्या बिसात!

लेकिन कहानी यहां और अधिक गंभीर है। चुनाव आयोग के भीतर से स्वयं दो Election Commissioners- सुखबीर सिंह संधू और विवेक जोशी ने electoral-roll database और IT archi-

ture के केंद्रीकरण पर लगातार लिखित आपत्तियां दर्ज कीं। यह किसी एक फाइल की मामूली टिप्पणी नहीं थी। दस महीनों में दोनों आयुक्तों ने कम-से-कम चौदह बार आपत्तियां दर्ज कीं और मामला Cabinet Secretary तक पहुंचा। चार नवंबर को Deputy Election Commissioner ने DG-IT सीमा खन्ना और दूसरे वरिष्ठ अधिकारियों को लिखा कि ERO, DEO और CEO के जो statutory functions हैं, वे उन्हीं को करने हैं और IT system कानून के अनुरूप होना चाहिए, "without any exception"। दो जनवरी को फिर कहा गया कि software ऐसा हो, जिससे ERO को कानून से मिली discretion restricted न हो। 16 अप्रैल को संधू ने फाइल पर लिखा कि IT division ने कई नए modules और portals बनाए, लेकिन Commissioners को जानकारी नहीं दी गई और कई developments का पता उन्हें मीडिया से चला।

फिर 29 मई को विवेक जोशी ने खतरे का नाम ही दर्ज कर दिया—"gradual centralisation of the electoral roll database"। उन्होंने independent audit का सुझाव दिया ताकि यह प्रमाणित हो कि statutory authorities के अलावा किसी दूसरे व्यक्ति के पास voter database में बदलाव करने के credentials नहीं हैं। अगस्त में संधू ने दर्ज किया कि राज्यों के CEO, DEO और ERO शिकायत कर रहे हैं कि उन्हें ERONet का "proper and complete access" नहीं है। उन्होंने लिखा कि DG-IT को statutory authorities की कानून से मिली access और operational freedom रोकने का कोई legal authority नहीं है।

यहां सवाल किसी सीमा खन्ना नाम की अफसर का नहीं है। सवाल एक अरब मतदाताओं की डिजिटल तिजोरी का है। उसकी कौन-सी digital key किसके पास है? कौन entry बदल सकता है? कौन permission रोक सकता है? हर बदलाव का audit trail है या नहीं? यदि Election Commissioners को

स्वयं independent audit मांगना पड़ा कि statutory authorities के अलावा किसी के पास database बदलने के credentials तो नहीं हैं, तब भारत के मतदाता को इसका जवाब क्यों नहीं मिलना चाहिए?

और गोवा ने दिखाया कि यह केवल theoretical सवाल नहीं है।

वहां 97 मतदाताओं का मामला सामने आया। स्थानीय ERO/AERO ने सुनवाई की, कागज देखे और उन्हें eligible पाया। सामान्य लोकतांत्रिक व्यवस्था में आगे क्या होना चाहिए था? ERO कानून से अधिकृत अधिकारी है। उसने फैसला किया कि नागरिक योग्य है। कंप्यूटर में नाम वापस डालो। बात खत्म।

मगर बात वहीं से शुरू हुई।

ECINet/IT workflow में स्थानीय अधिकारी अपना फैसला operationalise नहीं कर पा रहा था। गोवा के चुनाव अधिकारियों ने दिल्ली को लिखा। एक ईमेल, दूसरा, तीसरा, सात दिनों में आठ ईमेल। 17 फरवरी को final electoral roll निकलने में सिर्फ चार दिन बाकी थे तो Goa Chief Electoral Officer ने आठवीं बार चुनाव आयोग को लिखा। साथ में उन 97 मतदाताओं की सूची थी, जिन्हें स्थानीय अधिकारी योग्य मान चुके थे।

अगले दिन चुनाव आयोग के अपने Deputy Election Commissioner ने DG-IT सीमा खन्ना को लिखा। सार था- IT system सुप्रीम कोर्ट के निर्देशों के अनुसार जरूरी कार्रवाई को block नहीं कर सकता; ERO/AERO के फैसले के अनुसार कार्रवाई करनी ही चाहिए थी। इससे अधिक और क्या चाहिए? सुप्रीम कोर्ट की प्रक्रिया थी, वैधानिक अधिकारी का निर्णय था, राज्य के Chief Electoral Officer की लगातार चिट्ठियां थीं और चुनाव आयोग के Deputy Election Commissioner का निर्देश था। फिर भी 21 फरवरी को final voter list जब निकली तो 97 के 97 नाम गायब थे!

दो टूक सवाल है- सार्वभौम कौन? संसद के कानून से अधिकार पाया ERO या software architecture और उसकी गेटकीपर सीमा खन्ना?

तभी राजनीतिक साजिश, संदेह गहरा है। सवाल है जंतर-मंतर के नौजवान आंदोलनों और सोशल मीडिया पर नई पीढ़ी की मुखरता के बाद क्या मुस्लिम और दलित के साथ असंतुष्ट नौजवान, Gen-Z भी नरेंद्र मोदी-अमित शाह के लिए राजनीतिक चिंता-वर्ग नहीं बना है? सोशल मीडिया पर यही पीढ़ी प्रधानमंत्री का मजाक उड़ाती है, सरकार का विरोध करती है वही नेताओं की भक्त यूथ भी कीर्तन करते हैं। सरकार और राजनीतिक दल दिनरात social-media analytics करते होते हैं। भाजपा का बूथ और पन्ना-प्रमुख संगठन मतदाताओं पर राजनीतिक feedback जुटाता है। जाहिर है 2029 की चुनाव रणनीति में यूथ और उसका सोशल मीडिया व्यवहार भाजपा के लिए सर्वाधिक निर्णायक होगा।

तभी चुनाव डाटाबेस किसी बाहरी, गैरकानूनी डाटा-राजनैतिक प्रोफाइलिंग (external database or political profiling) या कि कथित पन्ना प्रमुखों की नेटवर्किंग व डाटा से जोड़ने का खटका बनता है। मोदी भक्त बनाम मोदी विरोधी, मुस्लिम, दलित अथवा Gen-Z जैसी political profiling से electoral records को सीधे अपनी चौकीदारी में अपना

बाकी अगले पेज लगातार पढ़ें

अजीत द्विवेदी

भारत में और दुनिया में भी दो तरह की राजनीति हमेशा होती है। एक असली और दूसरी दिखावे वाली, जिसे परफॉर्मेटिव पॉलिटिक्स कहते हैं। चुनावी सफलता के लिए दोनों के बीच एक निश्चित संतुलन की आवश्यकता होती है। अगर संतुलन बिगड़ जाए तो फिर समस्या हो जाती है। जब भारत में टेलीविजन मीडिया का प्रसार हुआ तो नेताओं में स्क्रीन पर दिखने की होड़ मची। तब परफॉर्मेटिव पॉलिटिक्स का अनुपात बढ़ गया। लालू प्रसाद जैसे नेताओं ने इस मीडियम का अपने लाभ के लिए खूब इस्तेमाल किया। हालांकि उन्होंने असली और दिखावे की राजनीति का अनुपात नहीं बिगड़ने दिया। पिछले कुछ समय से टेलीविजन के साथ साथ सोशल मीडिया का भी प्रसार बहुत तेजी से हुआ है और इससे ज्यादातर पार्टियों और नेताओं को दिखावे की राजनीति करने का ज्यादा अवसर मिला है।

इसके बावजूद भारतीय जनता पार्टी के बड़े नेता खास कर प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और अमित शाह असली और दिखावे की राजनीति का अनुपात नहीं बिगड़ने देते हैं। मोदी ने भी मीडियम का बहुत होशियारी से इस्तेमाल किया है। समस्या विपक्षी पार्टियों और उनके समर्थकों के साथ हैं। वे दिखावे की राजनीति यानी परफॉर्मेटिव पॉलिटिक्स को ही असली राजनीति मानने लगे हैं। उनको लग रहा है कि सोशल मीडिया में उनको ज्यादा ट्रैक्शन मिल रहा है, उनके उठाए मुद्दों पर ज्यादा चैटर है, व्यूज और लाइक्स ज्यादा आ रहे हैं इसका अर्थ है कि उनका नैरेटिव चल रहा है और वे इस आधार पर चुनाव जीत जाएंगे।

हर महीने सोशल मीडिया पर इन्फ्लूएंसर्स को मिलने वाले व्यूज का आंकड़ा आता है तो टॉप 20 में गिन कर चार या पांच राइटविंग के इन्फ्लूएंसर होते हैं। बाकी सरकार और भाजपा के विरोधी होते हैं। टॉप पर तो हमेशा ही कोई भाजपा विरोधी इन्फ्लूएंसर होता है। इस आधार पर भी निष्कर्ष निकाला जाता है कि हवा बदल गई है और अब भाजपा हारेगी। लेकिन जब चुनाव में भाजपा जीत जाती है तब कहा जाता है कि चुनाव आयोग के कारण भाजपा जीत गई।

यह किसी हाल में संभव नहीं है कि जनभावना खिलाफ हो तो चुनाव आयोग किसी पार्टी को चुनाव जीता दे। पहले भी जब बैलेट से वोटिंग होती थी तो खूब बूथ कैप्चरिंग होती थी। लेकिन सिर्फ बूथ कैप्चरिंग के आधार पर कोई चुनाव नहीं जीत सकता था। बूथ कैप्चरिंग में भी वही पार्टी कामयाब होती थी, जिसके पास जन समर्थन होता था। इसलिए यह कहना की भाजपा चुनाव आयोग के कारण जीत रही है या चुनाव आयोग के कारण भाजपा के खिलाफ एंटी इन्क्वैसी नहीं हो रही है या एसआईआर के कारण भाजपा जीत गई, नादानी होगी।

भाजपा की जीत के ठोस आधार हैं, जबकि कांग्रेस और विपक्ष की जीत के दावे का आधार आभासी हैं। आभासी यानी वर्चुअल माहौल के आधार पर ही कांग्रेस और उसकी सहयोगी पार्टियों के नेता भाजपा के हारने की उम्मीद करते हैं और सिविल सोसायटी के कांग्रेस समर्थक चेहरे भी कांग्रेस की जीत का दावा करते हैं।

अभी जब 'इंडियन एक्सप्रेस' ने मुख्य चुनाव आयुक्त की मनमानियों का खुलासा किया तो सबसे पहले दिन सीपीआई माले ने प्रदर्शन का ऐलान किया और उसमें हिस्सा लेने के लिए योगेंद्र यादव और प्रशांत भूषण भी जंतर मंतर पहुंच गए। पुलिस के साथ तकरार होने की दोनों की वीडियो भी खूब वायरल हुई, जिस पर काफी लाइक्स और व्यूज मिले और ये दोनों लोग लोकतंत्र बचाने के लिए सड़क पर उतरने वाले मसीहा कहलाए। लेकिन सवाल है कि इस परफॉर्मेटिव पॉलिटिक्स से कांग्रेस के

नैरेटिव को कितना फायदा मिलेगा? क्या सिविल सोसायटी का प्रतिनिधित्व करने वाले ये दोनों चेहरे नई पीढ़ी के मतदाताओं को आकर्षित कर पाएंगे? क्या इनके वहां

से जुड़े।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत जोड़ो यात्रा ने राहुल गांधी की एक गंभीर राजनेता वाली छवि स्थापित की और उसके तुरंत बाद हुए चुनाव में कांग्रेस को कर्नाटक में बड़ी जीत मिली। लोकसभा चुनाव में भी कांग्रेस की सीटें अगर दोगुनी हो गईं तो उसमें कहीं न कहीं राहुल गांधी की छवि और उनकी भारत जोड़ो यात्रा का हाथ था। उस यात्रा के बाद ही भाजपा ने राहुल गांधी को 'पप्पू' कहना बंद किया। उसके बाद से उनको देश विरोधी कहा जाने लगा।

खैर, राहुल गांधी ने योगेंद्र यादव या सिविल सोसायटी पर इसलिए भरोसा किया कि वे कांग्रेस के राजनीतिक अभियान को सप्लीमेंट करेंगे। लेकिन सिविल सोसायटी के जो नामी चेहरे हैं उनका एजेंडा अपने ऊपर फोकस बनवाने का है। उनको मुद्दों से ज्यादा अपनी मार्केटिंग की परवाह है। वे कांग्रेस या विपक्ष के एजेंडे को सप्लीमेंट नहीं कर रहे हैं, बल्कि खुद उसका हिस्सा बन रहे हैं। सत्ता विरोधी माहौल बनाने में विपक्ष के एजेंडे को कैसे सप्लीमेंट किया जाता है इसकी मिसाल 2011 से 2014 तक का घटनाक्रम है।

सिविल सोसायटी ने कैसे आम जनता के गुस्से को बढ़ाने में भूमिका निभाई यह सबने देखा। अन्ना हजारे से लेकर अरविंद केजरीवाल और बाबा रामदेव से लेकर आर्ट ऑफ लिविंग वाले रविशंकर तक और क्रिकेटर्स, उद्योगपतियों से लेकर फिल्म की कलाकारों ने कैसे महंगाई, भ्रष्टाचार आदि के मुद्दे पर उस समय के विपक्ष यानी भाजपा के एजेंडे को आगे बढ़ाने में पूरक का काम

किया। उस समय योगेंद्र यादव भी जाने अनजाने में कांग्रेस विरोधी माहौल बनाने के अभियान में लगे थे।

बहरहाल, उस समय सिविल सोसायटी ने जैसा काम किया वैसा कोई भी काम आज सिविल सोसायटी नहीं कर पा रही है। कह सकते हैं कि भाजपा की सरकार ने सिविल सोसायटी को कमजोर किया है और उनके अंदर भय पैदा किया है। लेकिन योगेंद्र यादव या प्रशांत भूषण अगर भयभीत नहीं हैं तो वे क्यों सिर्फ दिखावे की राजनीति कर रहे हैं? पुरानी कहावत है कि काठ की हांडी दोबारा नहीं चढ़ती या बासी कढ़ी में उबाल नहीं आता। योगेंद्र यादव और प्रशांत भूषण जैसे लोगों को यह बात समझनी चाहिए। हर मौके पर अपना चेहरा चमकाने की बजाय अगर वे नैरेटिव की ताकत को बढ़ाने के लिए काम करें तो उसका ज्यादा असर होगा।

कांग्रेस को और विपक्ष को भी को भी इस समय राहुल गांधी के रूप में नेता मिल गया है। अब उनके पीछे एक मजबूत संगठन और एक प्रभावशाली नैरेटिव की जरूरत है। ध्यान रहे नरेंद्र मोदी ने जब दिल्ली का अभियान शुरू किया था तो वे एक करिश्माई नेता के तौर पर स्थापित थे, उनके पीछे भाजपा व संघ जैसा बड़ा संगठन था और कांग्रेस की सरकार के खिलाफ मजबूत नैरेटिव था। मोदी के पास नेतृत्व और संगठन अब भी है। नैरेटिव जरूर कमजोर हुआ है लेकिन सिर्फ उस आधार पर मोदी को नहीं हराया जा सकता है। इसका कारण यह है कि नैरेटिव अभी ऐसे गुस्से में नहीं बदला है, जिससे लोग सरकार को उखाड़ फेंकने वाले मोड़ में आ जाएं।

सिविल सोसायटी की सीमाएं हैं। उससे न तो संगठन की मजबूती बनती है और न नेतृत्व की। लेकिन अगर उसकी विश्वसनीयता हो तो उससे नैरेटिव में एडवांटेज हासिल करने में मदद मिल सकती है। उसकी मदद से समाज में विपक्ष और राहुल गांधी के प्रति बने पूर्वाग्रहों को मिटाने का काम हो सकता है। लेकिन अफसोस की बात है कि अभी सिविल सोसायटी के चेहरों की खुद की विश्वसनीयता बहुत खराब हो गई है इसलिए वे बेअसर हो गए हैं। राहुल गांधी को भी यह बात समझनी होगी।

‘तथाकथित’ सिविल सोसायटी जमीनी राजनीति कब शुरू करेगी?



मौजूद होने और दीपांकर भट्टाचार्य या नेहा बोरा की जगह खुद लाइमलाइट में आ जाने से सरकार विरोधी माहौल बनाने में किसी को मदद मिलेगी? इन तीनों सवालों का जवाब नकारात्मक है।

योगेंद्र यादव पहले समाजवादी जन परिषद के नेता थे। फिर चुनाव विश्लेषक बने। फिर आम आदमी पार्टी में शामिल हुए। वहां से निकाले गए तो अपनी पार्टी बनाई और अब पूर्णकालिक सामाजिक कार्यकर्ता हैं। पिछले 12 साल में उन्होंने इतने चुनावों में भाजपा के हारने और कांग्रेस के जीतने की भविष्यवाणी की है कि अब उनकी भविष्यवाणियों पर कोई ध्यान नहीं देता है। हैरानी की बात है कि राहुल गांधी ने उनके ऊपर भरोसा किया। राहुल गांधी जब भारत जोड़ो यात्रा पर निकल रहे थे तो उन्होंने सिविल सोसायटी के लोगों से मुलाकात की थी। योगेंद्र यादव के जरिए वह बैठक हुई और योगेंद्र यादव सहित सिविल सोसायटी के अनेक लोग उस यात्रा

क्या चुनाव आयोग एक और बड़े आंदोलन को जन्म देगा?

हितकारी बनाया जा सकता है। आज किसी के पास जवाब नहीं है कि ECINet का क्या कभी audit हुआ है, किसने क्या है? उससे क्या सौ प्रतिशत फूलफूल प्रमाणित है कि ऐसा नहीं हो सकता जैसा गोवा में हुआ? आगे ऐसा कतई नहीं होगा। चेक-बैलेंस है या नहीं? अलग-अलग लेवल पर जिम्मेदारी-जवाबदेही तय हुई है? क्या गोवा के सबूत के बाद सीमा खन्ना से जवाब तलब हुआ? क्या ज्ञानेश कुमार अपने दफ्तर में खुद या अपने सचिवों से ECINet डाटा जंचवा सकते हैं? आखिर किस स्तर पर साफ्टवेयर-सिस्टम की ऑडिट-निगरानी है? क्या इसे संसदीय कमेटियों में जंचवाया, चेक कराया जा सकता है? किसके पास read access है, किसके पास write access और किसके पास override permission?

जब तक यह नहीं होता, यह नहीं बताया जाता तब तक सभी को यह मानने का हक है कि ECINet/सीमा खन्ना के "Super Admin" मोदी, अश्विनी वैष्णव, अमित शाह हैं। आखिर दो Election

Commissioners की लिखित आपत्तियों के बाद तो इस सिस्टम की सार्वजनिक जवाबदेही होनी चाहिए कि ECINet का वास्तविक Super Admin कौन है? और देश के लगभग एक अरब मतदाताओं को उसका नाम, अधिकार और audit trail क्यों नहीं लोगों को, संसद को, सुप्रीम कोर्ट को मालूम होनी चाहिए? मुझे अपने लड़कपन का समय याद है। चुनाव से पहले सरकारी कर्मचारी घर आता था। लिस्ट लेकर पूछता था- कौन जीवित है, कौन मर गया, कौन लड़का-लड़की अठारह (या 21) का हो गया? मतलब तब राष्ट्र नाम जोड़ने की जिम्मेदारी अपनी मानता था। उसी से कांग्रेस और जनसंघ के कार्यकर्ता मतदान से पहले voter slip घर पहुंचाते थे। लोकतंत्र का भाव था- नागरिक को खोजो और वोट डलवाओ। चुनाव के महायज्ञ में हर नागरिक की आहुत हो।

आज, सन् 2026 में सब उलटा है। सोचें, पहले नागरिक अपना नाम खोजे। 2002 का रिकॉर्ड खोजे। मां-बाप का नाम खोजे। notice देखे। जरूरत हो तो

Form-6 भरे। दफ्तर जाए। चक्कर लगाए। अपना नाम वापस सूची में लाए।

वसंत कुंज का अनुभव इसी कारण मेरे लिए आंकड़ा नहीं, चेतावनी है। महीनों से परिवारों में लड़के-लड़कियां, बेटे-बेटियां, बहुएं और बूढ़े अपने records देख रहे हैं। मैंने ऐसी बूढ़ी महिला का किस्सा सुना, जिसने झल्लाकर पुराने कागज ERO/BLO के सामने फेंक दिए- ले तेरे कार्ड, मुझे नहीं डालना वोट!

यही 2029 और Gen-Z का भी असल मसला है, सवाल है।

देश भर में SIR की draft rolls से 13 करोड़ से अधिक पुराने नाम बाहर हुए हैं। इसका अर्थ 13 करोड़ लोगों का स्थायी disenfranchisement नहीं है। claims, objections और verification से नाम वापस आ सकते हैं। मगर चुनाव आयोग को अब उभ्रवार हिसाब सार्वजनिक करना चाहिए। 18-19 कितने? 20-24 कितने? 25-29 कितने? 30-35 कितने? इनमें dead कितने, duplicate कितने,

shifted कितने और unmapped कितने? कितनों को notice मिला? कितनों ने स्त्रशहद्ध-6 भरा? कितने वापस आए और final roll में कितने बाहर रह गए? तभी पता चलेगा कि Gen-Z के वोटों को कैसी बेरहमी से मारा जा रहा है या उनके नाम उनकी मोदी-योगी-शाह-संघ की वफादारी से जुड़ रहा, बढ़ रहा या घट रहा है?

इससे भी बड़ा सवाल बतौर राष्ट्र-राज्य संविधान-नागरिक के रिश्तों का है। सवाल है डिजिटल भारत में मताधिकार बचाए रखने का बोझ किसका है? क्यों भारत राष्ट्र-राज्य का नागरिक अपने को बार-बार राज्य के सामने प्रमाणित करे? जिस राज्य के पास नागरिक के जीवन के दर्जनों digital records हैं, क्या उसका पहला लोकतांत्रिक कर्तव्य, यह ड्यूटी नहीं कि वह सुनिश्चित करे कि एक भी योग्य नागरिक database, address, spelling, mapping या software की भूल, चूक, धांधली में वोट से बाहर न हो? (जैसे की 2014 से पहले ईमानदारी से कोशिश होती थी)

राजस्थान निकाय चुनाव:

10 में 9 निगमों पर भाजपा का कब्जा

कांग्रेस को हार से ज्यादा गुटबाजी ने किया परेशान



राजस्थान के 10 नए मेयर



नगर निगम चुनावों पर विशेष रिपोर्ट

राजस्थान में नगर निकाय चुनावों की तस्वीर अब पूरी तरह साफ हो चुकी है। जयपुर, जोधपुर और कोटा नगर निगम में महापौर चुनाव संपन्न होने के बाद यह तय हो गया कि प्रदेश के 10 नगर निगमों में से 9 पर भाजपा का महापौर होगा। कांग्रेस केवल बीकानेर नगर निगम में ही अपना महापौर बनाने में सफल रही। वहीं नगर परिषद और नगर पालिकाओं समेत कुल निकायों की बात करें तो भाजपा ने 204 निकायों में बोर्ड बनाया है, जबकि कांग्रेस 96 निकायों तक सिमट गई।

नतीजों के बाद बोर्ड बनाने की लड़ाई

14 सितंबर को पार्षद चुनाव के परिणाम आने के साथ ही दोनों प्रमुख दल बोर्ड गठन की रणनीति में जुट गए थे। कई जगहों पर पार्षदों की बाड़ेंबंदी की गई। भाजपा और कांग्रेस दोनों ने अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों को एकजुट रखने की कोशिश की।

इस दौरान विपक्षी नेताओं ने पार्षदों को प्रभावित करने, हॉर्स ट्रेडिंग और अगवा करने जैसे आरोप भी लगाए। राजनीतिक माहौल इतना गर्म था कि दोनों दलों को अपने ही पार्षदों की नाराजगी और क्रॉस वोटिंग का डर सताने लगा।

क्रॉस वोटिंग ने बदले समीकरण

चुनाव परिणामों ने साबित कर दिया कि दोनों दलों की चिंता बेवजह नहीं थी। कई

निकायों में क्रॉस वोटिंग ने पूरी तस्वीर बदल दी। कोटा नगर निगम इसका बड़ा उदाहरण रहा। कांग्रेस के पास 39 पार्षद होने के बावजूद उसके उम्मीदवार को केवल 35 वोट मिले। इस नतीजे से नाराज कांग्रेस ने उपमहापौर चुनाव का बहिष्कार कर दिया।

पाली में कांग्रेस को सबसे बड़ा झटका

पाली नगर निगम चुनाव कांग्रेस के लिए सबसे बड़ी राजनीतिक हार बनकर सामने आया। 65 वार्डों में 29 पार्षद जीतने के बावजूद पार्टी अपना मेयर नहीं बना पाई। कांग्रेस उम्मीदवार सुमित्रा जैन को सिर्फ 3 वोट मिले। दूसरी ओर बागी उम्मीदवार राजबाला हिंगड़ को 29 वोट मिले। कांग्रेस के भीतर की इस खींचतान का सीधा फायदा भाजपा को मिला और भाजपा प्रत्याशी नमिता बुबकिया 33 वोट हासिल कर मेयर बन गई।

क्रॉस वोटिंग का नुकसान केवल कांग्रेस को ही नहीं हुआ। नागौर जिले की मूंडवा नगर पालिका में भाजपा के लिए भी चौंकाने वाला परिणाम सामने आया। 25 वार्डों वाली इस पालिका में भाजपा के 10 पार्षद थे, इसके बावजूद पार्टी की अध्यक्ष पद की उम्मीदवार गीता देवी को एक भी वोट नहीं मिला। इससे साफ हो गया कि भाजपा के भीतर भी असंतोष और अंदरूनी खींचतान मौजूद है।

भाजपा के लिए जीत, लेकिन चेतावनी भी

भाजपा ने पिछले निकाय चुनावों की तुलना में बेहतर प्रदर्शन किया है। मुख्यमंत्री भजनलाल शर्मा ने चुनाव प्रचार में रोड शो के जरिए मतदाताओं तक पहुंचने की रणनीति अपनाई, जिसका लाभ पार्टी को मिला। हालांकि क्रॉस वोटिंग ने भाजपा नेतृत्व को भी सतर्क कर दिया है। राजस्थान दौरे पर आए भाजपा के राष्ट्रीय अध्यक्ष नितिन नवीन ने पार्टी नेताओं को साफ संदेश दिया कि अहंकार से बचना होगा। उन्होंने कहा कि किसी नेता की सिफारिश पर टिकट पाने वाला उम्मीदवार यदि बाद में पार्टी विरोधी गतिविधियों में शामिल होता है तो इसकी जिम्मेदारी सिफारिश करने वाले नेता की भी होगी।

कांग्रेस: आत्ममंथन की चुनौती

दूसरी ओर कांग्रेस की स्थिति ज्यादा चुनौतीपूर्ण दिखाई दे रही है। हार की समीक्षा के बजाय पार्टी में बयानबाजी और गुटबाजी चर्चा का विषय बनी हुई है।

पूर्व मुख्यमंत्री अशोक गहलोत ने संकेतों में प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष गोविंद सिंह डोटासरा की रणनीति पर सवाल उठाए। गहलोत ने कहा कि यदि कांग्रेस भी भाजपा की तरह बड़े स्तर पर रोड शो करती तो परिणाम बेहतर हो सकते थे। उन्होंने यह भी कहा कि कांग्रेस का पारंपरिक वोट कई स्थानों पर निर्दलीय उम्मीदवारों की ओर चला गया, जिस पर गंभीरता से विचार होना चाहिए।

चुप रहने की कला



- आदित्य

मैं चाहता हूँ चुप रहूँ
जब मेरी गली से गुजर रहा हो हत्यारा
जब उसकी फौज अश्लील इशारे करते
मेरे घर की खिड़की से झांके
तो कह दूँ
आइए श्रीमान चाय पानी तैयार है।
कुछ मधुर वाक्य मैं लिखना चाहता हूँ
एक ऐसी भाषा में, जिसमें
उन्हें कुछ और कहा जा सके
आखिर वे भी मनुष्य हैं।
वे सैनिक हो सकते थे
या ब्यूरोक्रेट
एक लेखक या पत्रकार
मैं चाहता हूँ जब अगली गली में एक और लाश गिरे
तो वे मेरे आंगन में आकर अपने हाथ पांव धुलें
हम पत्तल सजायेंगे
पकवान की धीमी सुगंध से महक उठेगा आंगन
कहें कि मेरे घर पधारें पाहुन
जब वे आयें तो मेरी जुबान से एक लफ्ज ना फिसले
उनकी मक्कारी पर।
वे सबसे पहले मेरी हत्या संभव करें
सबसे पहले वे मेरी आत्मा पर खंजर चलाएं
मैं चुप की नदी में डूब जाऊँ।

प्रशासक इस्तीफा देने पर ही लड़ सकेंगे सरपंच का चुनाव नहीं तो नामांकन हो जाएगा खारिज, सरकार एक साथ भी हटा सकती है

जयपुर

राजस्थान में सरपंच का चुनाव लड़ने के लिए प्रशासक को कुर्सी छोड़नी होगी। अगर कोई निवर्तमान सरपंच नामांकन भरने से पहले प्रशासक पद से इस्तीफा नहीं देता तो वह चुनाव नहीं लड़ सकेगा। सरकार सभी प्रशासकों को एक साथ भी हटाने की तैयारी कर रही है। दरअसल, प्रदेश की 10 हजार 290 ग्राम पंचायतों का कार्यकाल खत्म होने

के बाद सरकार ने वहां प्रशासक नियुक्त किए थे। इस पद पर ग्राम पंचायतों में रहे सरपंचों को ही प्रशासक लगाया गया था। लेकिन अब आगामी दिनों में पंचायती राज संस्थाओं (जिला परिषद, पंचायत समिति और ग्राम पंचायत) के चुनाव होने हैं। ऐसे में अगर कोई निवर्तमान सरपंच जो प्रशासक के पद पर नियुक्त है और वापस चुनाव लड़ना चाहते हैं, उसे प्रशासक के पद से इस्तीफा देना

पड़ेगा।

नामांकन पत्र भरने से पहले देना होगा इस्तीफा

राज्य निर्वाचन आयोग से जारी गाइडलाइन के मुताबिक जब भी पंचायत चुनावों के नामांकन पत्र भरे जाएंगे तो उससे पहले इस्तीफा देना पड़ेगा। नामांकन पत्रों की जांच में इस्तीफा देखा जाएगा, अगर इस्तीफा

स्वीकार नहीं हुआ तो ऐसे उम्मीदवार का नामांकन खारिज किया जाएगा। आयोग ने प्रशासक के पद को लाभ का पद माना है। इसलिए चुनाव लड़ने की तैयारी कर रहे प्रशासकों को नामांकन के अंतिम समय तक इंतजार करने के बजाय इस्तीफा स्वीकार कराने की प्रक्रिया पूरी करवानी होगी।

सरकार भी हटाने की तैयारी में

इधर, सरकार के स्तर पर भी मंथन चल रहा है कि इन सभी प्रशासकों को चुनाव आयोग की घोषणा से पूर्व ही हटा दिया जाए। ताकि सभी निवर्तमान सरपंच चुनाव लड़ने के लिए स्वतंत्र हो सकें। अगर सरकार ऐसा नहीं करती है तो प्रशासक के इस्तीफे के मामलों में संबंधित जिला कलेक्टर इस्तीफा स्वीकार कर पदमुक्त करने का आदेश अपने स्तर पर जारी कर सकते हैं।

भारत में रंग-बिरंगे संतों की बाढ़ आई हुई है, लेकिन.. पानी पीजिए छान कर, गुरु कीजिए जान कर

विनीत नारायण

आज देश में सनातन धर्म के नाम पर शोर मचाने वाले ऐसे हजारों धर्मध्वजी, आत्मघोषित 'संत' गुरु, कथावाचक आदि सोशल मीडिया और समाज में छा गए हैं, जिनका आचरण दूर-दूर तक संतों जैसा नहीं है। रंगमंच के कलाकारों के जैसे रंगबिरंगे चमकीले-भड़कीले डिजाइनर वस्त्र पहन कर सरकारी सुरक्षाकर्मियों के साथ में विशाल पंडालों में श्रोताओं के सम्मुख स्वयं को किसी राजाधिराज की तरह प्रस्तुत करना आम हो गया है। इसलिए कहावत है, 'पानी पीजिए छान कर, गुरु कीजिए जान कर।'

बाबा नीब करौरी के जीवन के पूर्वार्ध पर बनी फिल्म 'हनुमान अंश' ने देश-विदेश के सनातनधर्मियों के हृदय को स्पर्श किया है। पिछले हफ्ते जब थिएटर में मैं ये फिल्म देख रहा था तो अपनी भावनाओं को रोक नहीं पाया और आंखें कई बार छलछला गईं। कारण ये कि नीब करौरी बाबा का तो नहीं पर उन जैसे कुछ संतों का सानिध्य पिछले 28 वर्षों में मुझे निरंतर प्राप्त हुआ है। इन संतों की सहजता, दरिद्र नारायण के प्रति करुणा और अमीर-गरीब के बीच कोई फर्क न करने की प्रवृत्ति ने मुझे बहुत प्रभावित किया।

1998 में जब बरसाना के विरक्त संत श्री रमेश बाबा से मिला तो वे मानगढ़ की पहाड़ी पर एक खण्डहर-नुमा कमरे में रहते थे। जिसमें जून की गर्म दोपहरी में आती गर्म हवा के थपेड़ों को रोकने के लिए खिड़कियों पर फटी बोरियों को भिगो कर टंगा हुआ था। जब बाबा ने मुझे ब्रज की सांस्कृतिक धरोहरों को सजाने संवारने का आदेश दिया तो उन्होंने यह भी कहा कि, भगवान दीनबंधु दीनानाथ हैं, धनीबंधु वीआईपीनाथ नहीं। पहले फकीर बनों, तब ब्रज की सेवा करना।

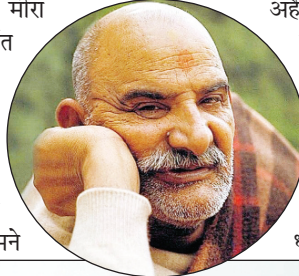
बाबा के सानिध्य में 2002-05 के बीच मैंने भी ऐसा जीवन जीने का प्रयास किया। बोरी बिछा कर सोना, भिक्षा मांग कर रोटी खाना और बेहद साधारण कपड़े पहनना। पर इतना ही काफी नहीं था। अपने स्वभाव में दीनता लाने का भी अभ्यास करना था। इस तरह बाबा ने अनेक प्रकार से ब्रज सेवा के लिए प्रशिक्षित किया। उनके प्रताप से जो कुछ ब्रज में धरोहरों के जीर्णोद्धार के कार्य हुए वो जग-जाहिर हैं।

इसी तरह बरसाना की पीली पोखर पर रहने वाले

विरक्त संत विनोद बाबा भी हैं। जिनके तप, सादगी, करुणा और हृदय की विशालता को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। मेरी मित्र मीरा बोरवांकर जो महाराष्ट्र की चर्चित पुलिस अधिकारी रही और जिसके जीवन पर बॉलीवुड की फिल्म 'मर्दानी' बनी, वो श्री विनोद बाबा के दर्शन को तैयार नहीं थी। पर मैं उसे ले गया। बाबा को देखते ही वो ऐसी स्तब्ध हुई कि वहां उनके सामने

आंसू थम नहीं रहे थे।

सच्चे संत हमारी पात्रता को नहीं देखते, वे तो अहैतुक कृपा करते हैं। नीब करौरी बाबा का जीवन भी ऐसा ही था। उन्होंने आडंबर और वैभव रहित सादगी भरा जीवन आम जनमानस के लिए समर्पित किया था। उनके क्रियाकलाप ये सिद्ध करने के लिए काफी हैं कि संत को आपके पद, धन, रतबे और हैसियत से कुछ लेना-



घंटों बैठने की इच्छा व्यक्त करने लगी। 'हनुमान अंश' के अनेक प्रसंग ऐसे हैं जैसे मैंने उपरोक्त दोनों संतों के जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव किए हैं। 'संत हृदय नवीनतम समाना'। जिस तरह बादल रात में चुपचाप किसान के खेत पर बिना बताए वर्षा करके चले जाते हैं, वैसे ही संत भी हमारे जीवन में अपनी कृपा की वृष्टि अनायास ही करते रहते हैं। गोवर्धन के सियाराम बाबा, वृंदावन के कृपाविलास वाले महाराज, पिछले कुछ वर्षों में प्रेमानंद जी महाराज और केरल की संत माता अमृतानंदमयी 'अम्मा' के सानिध्य में मुझे ऐसे ही अनेक अनुभव हुए हैं। इन सभी संतों ने मुझ पर अपना वात्सल्य खूब उड़ेली है। इसीलिए 'हनुमान अंश' फिल्म देखते समय मुझे बार-बार ऐसे प्रसंग याद आ रहे थे और

देना नहीं होता। दुर्भाग्य की बात यह है कि आज देश में सनातन धर्म के नाम पर शोर मचाने वाले ऐसे हजारों धर्मध्वजी, आत्मघोषित 'संत' गुरु, कथावाचक आदि सोशल मीडिया और समाज में छा गए हैं, जिनका आचरण दूर-दूर तक संतों जैसा नहीं है।

रंगमंच के कलाकारों के जैसे रंगबिरंगे चमकीले-भड़कीले डिजाइनर वस्त्र पहन कर सरकारी सुरक्षाकर्मियों के साथ में विशाल पंडालों में श्रोताओं के सम्मुख स्वयं को किसी राजाधिराज की तरह प्रस्तुत करना आम हो गया है। मोह-माया त्यागने का उपदेश देना और स्वयं वैभव युक्त जीवन जीना, सत्ताधीशों के आगे-पीछे मंडराना या उनके सानिध्य में गर्वित होना, अपने ही संसाधनों से मीडिया में स्वयं को 'परम श्रद्धेय

गुरुदेव' जैसे अलंकारों से प्रचारित करवाना और खुलेआम धर्म का व्यापार करना इनके लिए आम बात है। आम जनता अपने जीवन के कष्टों से मुक्ति पाने के लिए धर्म की शरण लेती है। पर उन्हें मिलता है 'ऊंची दुकान और फीका पकवान'।

पिछले तीस वर्षों में मैंने कई बार लिखा है कि जिसके सम्मुख बैठ कर आपकी भौतिक कामनाएं समाप्त हो जाएं और आध्यात्मिक जिज्ञासा का वेग प्रबल हो जाए, वही सच्चा संत है। बाकी तो सब धार्मिक मनोरंजन हैं। हमें भगवान या सच्चे संत से कुछ कह कर मांगना नहीं होता। नीब करौरी बाबा की तरह वे स्वयं ही जान लेते हैं कि हमें क्या चाहिए या हमारा भला किसमें है। भगवान श्री कृष्ण भगवद्गीता के 18वें अध्याय के 61वें श्लोक में कहते हैं कि, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' अर्थात् हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में निवास करते हैं। तो उनसे कुछ बोल कर मांगने की क्या जरूरत है?

देश के कोने-कोने में ऐसे सच्चे संतों की कमी नहीं है जो हमें तत्वज्ञान भी करा सकते हैं और हमारी व्यग्रता को भी शांत कर सकते हैं। ऐसे संतों को हमसे धन या संसाधन पाने की अपेक्षा नहीं होती। उन्हें जबरन शिष्य बनाने की इच्छा भी नहीं होती। ऐसे संत तो हमारे लाख बार नाक रगड़ने के बाद भी हमारी पात्रता को देख कर अपना शिष्य स्वीकार करते हैं। आजकल तो देश में थोक में शिष्य बनाने का व्यापार चल रहा है। 'जैसा गुरु वैसा चेला, दोनों मिलकर ठेलमठेला'। लगभग 500 वर्ष पूर्व महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ब्रज चौरासी कोस यात्रा के दौरान एक जंगल में पड़े विशालकाय अजगर को देख कर ठिठक गए। उस अजगर को हजारों चींटियां खा रही थीं। वो दर्द से छटपटा रहा था। महाप्रभु ने वहीं ठहर कर श्रीमद् भगवद् के 108 पाठ करने के निर्णय किया। उनके अर्चभित शिष्यों ने इसका कारण पूछा। महाप्रभु ने कहा कि ये अजगर पिछले जन्म में आत्मघोषित गुरु था। इसने हजारों लोगों को दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया। पर न तो वो अपना उद्धार कर सका और न ही अपने हजारों शिष्यों का। वही शिष्य इस जन्म में ये हजारों चींटियां बन कर उसका शरीर खा रही हैं। इसलिए कहावत है, 'पानी पीजिए छान कर, गुरु कीजिए जान कर।'

महाभारत- भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया श्राद्ध करने की परंपरा

अभी पितृ पक्ष चल रहा है और आज (30 सितंबर) चतुर्थी तिथि का श्राद्ध किया जाएगा। पितृ पक्ष 10 अक्टूबर तक है। इन दिनों में पितरों को याद करने और उनके लिए पिंडदान, तर्पण, श्राद्ध कर्म करने की परंपरा है। पितृ पक्ष में किए जाने वाले धर्म-कर्म और नियमों के बारे में कई ग्रंथों में जिक्र किया गया है। महाभारत में भी श्राद्ध कर्म से जुड़ी कई बातें बताई गई हैं। उज्जैन के ज्योतिषाचार्य पं. मनीष शर्मा के मुताबिक, महाभारत के अनुशासन पर्व में भीष्म पितामह और युधिष्ठिर के बीच हुए संवाद में श्राद्ध से जुड़े नियम, परंपराएं और कथाएं बताई गई हैं।

महर्षि निमि से जुड़ी है श्राद्ध करने की परंपरा

महाभारत के अनुशासन पर्व के अध्याय 91 में युधिष्ठिर भीष्म से पूछते हैं कि पितामह श्राद्ध कब प्रचलित हुआ? सबसे पहले किस महर्षि ने इसका संकल्प किया?

भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा कि श्राद्ध की कथा महर्षि निमि से जुड़ी है। इस कथा के अनुसार ब्रह्मा जी से अत्रि मुनि की उत्पत्ति हुई। अत्रि मुनि के

यहां भगवान दत्तात्रेय का जन्म हुआ और उनके वंश में आगे चलकर निमि ऋषि हुए।

निमि ऋषि के पुत्र का नाम श्रीमान था। कम उम्र में ही श्रीमान की मृत्यु हो गई। पुत्र की मृत्यु से निमि ऋषि बहुत दुखी हुए। इसी दुख में उन्होंने एक अमावस्या तिथि पर अपने पुत्र के लिए श्राद्ध कर्म किया।

उन्होंने ब्राह्मणों को भोजन कराया और पुत्र के लिए पिंडदान किया। धार्मिक परंपरा में इसी घटना को श्राद्ध कर्म की शुरुआत के रूप में बताया जाता है। इसके बाद पितरों के लिए श्राद्ध और तर्पण करने की



परंपरा आगे बढ़ी।

महाभारत में भी पितर देवताओं का उल्लेख

महाभारत में पितरों से जुड़ी मान्यताओं का भी वर्णन है। इसमें ब्रह्मा, पुलस्त्य, वसिष्ठ, अंगिरा और महर्षि कश्यप आदि को प्रमुख पितर देवताओं के रूप में माना जाता है। पितृ पक्ष में लोग अपने घर-परिवार के दिवंगत सदस्यों को याद करते हैं और उनकी आत्मा की शांति के लिए धर्म-कर्म करते हैं। श्राद्ध अपने प्रियजनों को

याद करने और उनके प्रति सम्मान व्यक्त करने का अवसर है।

श्राद्ध करने से पितरों को शांति

मान्यता है कि पितृ पक्ष में श्राद्ध और तर्पण करने से पितरों को शांति मिलती है। ऐसे कर्म व्यक्ति को अपने पूर्वजों से जुड़ने और उन्हें याद करने का अवसर देते हैं।

धूप-ध्यान की सरल विधि

जरूरी चीजें- गाय के गोबर से बने कंडे, धूप देने के लिए हवन कुंड या अन्य कोई बर्तन, घी, काले तिल, चावल, गुड़, कर्पूर, जल से भरा तांबे का लोटा, फूल, बैठने के लिए आसन। अगर ये सभी चीजें उपलब्ध न हो, तो जल, तिल, कंडे के अंगारे और गुड़-घी से भी श्रद्धापूर्वक पितरों का स्मरण करके धूप-ध्यान किया जा सकता है। आप चाहें तो खीर-पुड़ी भी बना सकते हैं। खीर-पुड़ी से भी धूप दिया जाता है।

देश की राजनीति के एक गंभीर पहलू

पर विनोद जोशी का आलेख

मतदाता सूची के विशेष गहन पुनरीक्षण यानी एसआईआर की गड़बड़ों और मुख्य चुनाव आयुक्त ज्ञानेश कुमार की मनमानियों के खिलाफ विपक्षी पार्टियों की बैठक 30 सितंबर को दिल्ली में हो गई। मई में भी विपक्षी गठबंधन यानी 'इंडिया' ब्लॉक की एक बैठक दिल्ली में हुई थी। तब जिन पार्टियों ने उससे दूरी बनाई थी वे भी इस बार की बैठक में शामिल हो रही हैं। इससे पार्टियों की गंभीरता का अहसास हो रहा है। लेकिन क्या सिर्फ एक साथ आकर बैठक कर लेना पर्याप्त होगा? देश के सामने जो अभूतपूर्व संकट दिख रहे हैं उससे निपटने के लिए पार्टियों की साझा बैठक या नेताओं के बेहद आक्रामक बयान या सोशल मीडिया का अभियान पर्याप्त नहीं है।

पार्टियों को संकट की व्यापकता को समझना होगा और मुकाबले के लिए गंभीर प्रयास करने होंगे। सबसे पहले तो 'इंडिया' ब्लॉक को ही औपचारिक रूप देना होगा। 2023 में शरद पवार के घर पर हुई बैठक के बाद से ही इसका इंतजार हो रहा है कि इसका एक संयोजक होगा और एक सचिवालय बनेगा। लेकिन अभी तक ये दोनों काम नहीं हुए। जून 2024 में चुनाव हारने के बाद तो दो साल तक इसकी बैठक भी नहीं हुई।

ऐसा नहीं है कि विपक्षी पार्टियों को कोई चैरिटी का काम करना है। संविधान और लोकतंत्र की रक्षा के अभियान ने ही 2024 के चुनाव में कांग्रेस और अन्य विपक्षी पार्टियों को राजनीतिक सफलता दिलाई थी। इसलिए अगर पार्टियां गंभीरता से एसआईआर की गड़बड़ियों को पकड़ती हैं, उन्हें जनता के बीच ले जाती हैं, चुनाव आयोग और सरकार को कठघरे में खड़ा करती हैं तो उनको इसका राजनीतिक लाभ भी मिलेगा। एक समय था जब विपक्ष मुद्दों की तलाश करता था और उन पर आंदोलन करके सरकार को जवाबदेह बनाता था। लेकिन अब ऐसा नहीं हो रहा है।

यह बहुत दिलचस्प है कि इन दिनों आम लोग सरकार की कमियां खोज रहे हैं। नीट पेपर लीक और परीक्षा में गड़बड़ी का खुलासा छात्रों ने किया। उन्होंने न सिर्फ पेपर लीक का पता लगाया, बल्कि परीक्षा कराने का ठेका ब्लैकलिस्टेड कंपनी को दिए जाने का खुलासा भी छात्रों ने किया। पहली बार अगर नरेंद्र मोदी सरकार के किसी मंत्री का इस्तीफा हुआ तो वह छात्रों के आंदोलन और उनके दबाव में हुआ। नीट पेपर लीक का खुलासा करने से लेकर

'बयानवीरों' से भरा विपक्ष आंदोलन कैसे खड़ा करेगा ?

मुकाबले की गंभीर राजनीति बिना 'शून्य' संभावनाएं!



ब्लैकलिस्टेड

कंपनी को परीक्षा का ठेका देने के लिए बार बार टेंडर बदलने का खुलासा सार्थक सिद्धांत और निसर्ग अधिकारी जैसे युवा छात्रों ने किया।

इसी तरह इथेनॉल मिश्रित पेट्रोल से गाड़ियों के इंजन खराब होने का मुद्दा कुछ यूट्यूबर्स और इन्फ्लूएंसर्स ने उठाया। मनीष कश्यप ने इसे राष्ट्रीय मुद्दा बनाया। आम लोगों से जुड़े इस मुद्दे पर भी सरकार बैकफुट पर आई। इसी तरह यूपीआई पर शुल्क लगाने के सरकार के फैसले के खिलाफ व्यापारी लड़ रहे हैं और आम लोग सोशल मीडिया में माहौल बना रहे हैं। ऐसे ही राम मंदिर में चढ़ावा चोरी का खुलासा मंदिर के ही एक कर्मचारी ने किया। इन सारे मुद्दों पर गहराई से काम करने की जरूरत थी। लेकिन विपक्ष ने सिर्फ संसद सत्र में इन मुद्दों को उठाया।

असल में विपक्ष का रवैया बयानबाजी का है। वह हर मुद्दे को छूकर आगे बढ़ जा रहा है। जबकि इतिहास गवाह है कि किसी भी मुद्दे पर सरकार को जिम्मेदार ठहराने और सत्ता विरोधी माहौल बनाने के लिए सतत चलने वाले प्रयास की जरूरत होती है। उस पर गंभीरता से शोध करना होता है,

'लोकतंत्र' बचाने के लिए इंडिया गठबंधन की योजना

- 2 अक्टूबर से 8 अक्टूबर तक जिला स्तरीय लोकतंत्र बचाओ मार्च
- 6 अक्टूबर को विपक्षी पार्टियों के सांसद चुनाव आयोग तक मार्च निकालेंगे
- विपक्षी पार्टियों के नेता अक्टूबर के दूसरे हफ्ते में भारत की राष्ट्रपति से मिलने का समय मांगेंगे
- इंडिया गठबंधन पांच बड़ी रैलियां आयोजित करेगा
- 1 नवंबर को दिल्ली में एक बड़ी रैली होगी, जिसमें हम वोट चोरी से जुड़े मुद्दों को उठाएंगे
- इंडिया गठबंधन की मांग है - सुप्रीम कोर्ट में एसआईआर से जुड़े सभी मामलों का जल्द से जल्द निपटारा किया जाए

उसके हर आयाम को समझना और जनता को समझाना होता है। बोफोर्स का मामला निरंतर दो साल से ज्यादा चला था तब जाकर राजीव गांधी की सरकार के खिलाफ माहौल बना। भ्रष्टाचार का आंदोलन लगातार तीन साल चला तब लोगों की दिलदिमाग में मनमोहन सिंह की सरकार को पलट देने और कांग्रेस को सजा देने की भावना बनी। यहां कांग्रेस और दूसरी विपक्षी पार्टियां समझ रही हैं कि वे संसद में मुद्दा उठा देंगी, संसद परिसर में हंगामा कर देंगी या एक साझा बैठक कर लेंगी या कोई प्रेजेंटेशन हो जाएगी तो उससे सरकार के खिलाफ माहौल बन जाएगा तो ऐसा नहीं होने वाला है। यह सरकार पहले की सरकारों की तरह हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने वाली नहीं है। वह लगातार आरोपों को काउंटर करती है और नए नैरेटिव पैदा करती

कह देना पर्याप्त नहीं है कि ज्ञानेश कुमार ने मनमानी की, 13 करोड़ लोगों के नाम काट दिए या जिला व प्रदेश के चुनाव अधिकारियों को सेंट्रल डेटाबेस का एक्सेस नहीं दिया। विपक्ष को इसकी तह में जाना होगा।

अभी ऐसा लग रहा है कि पार्टियां ऊपर ऊपर मामले को देख रही हैं। उनके प्रयास में निरंतरता भी नहीं है। राहुल गांधी ने पिछले साल सितंबर में कर्नाटक की आलंद विधानसभा सीट को लेकर खुलासा किया था। उन्होंने 6,018 वोट काटे जाने का दावा किया था और कहा था कि कर्नाटक के बाहर से मोबाइल नंबर से नाम कटवाने के आवेदन भेजे गए और नाम कटे। उन्होंने सूर्यकांत नाम के एक व्यक्ति को मंच पर पेश किया। सूर्यकांत ने बताया कि उन्होंने

किसी का नाम काटने का आवेदन नहीं दिया लेकिन उनके नाम से आवेदन करके 14 मिनट में 12 नाम कटवाए गए। राहुल गांधी ने महाराष्ट्र को लेकर भी इस तरह के दावे किए। लेकिन उसके बाद सन्नाटा हो गया।

यह बहुत बड़ी बात है कि किसी भी व्यक्ति के नाम या फोन नंबर का इस्तेमाल करके दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के नाम काटे जा रहे हैं या काटे जा सकते हैं। अभी चुनाव आयोग ने सुप्रीम कोर्ट को बताया है कि पश्चिम बंगाल में न्यायाधिकरणों के सामने 38 लाख आवेदन लंबित हैं, जिनमें से 22 लाख आवेदन नाम जोड़ने के हैं और 16 लाख आवेदन नाम काटने के हैं। क्या यह विपक्ष की जिम्मेदारी नहीं है कि वह पता लगाए कि ये 16 लाख लोग कौन हैं, जो अपना नाम कटवाना चाहते हैं? पिछले दिनों बंगाल के माल्दा और मुर्शिदाबाद दोनों जगह से खबर आई थी कि थोक में फॉर्म सात भर कर लोगों के नाम कटवाने की कोशिश की गई।

कई जगह जागरूक बीएलओ ने इसे रोका भी। दिल्ली में 47 लाख यानी एक तिहाई मतदाताओं के नाम कट गए। इनमें 43 लाख लोगों के नाम इस आधार पर कटे हैं कि वे स्थायी रूप से शिफ्ट हो गए हैं। सोचें, इतनी बड़ी संख्या में दिल्ली से शिफ्ट होकर लोग कहां जा रहे हैं? अब 'इंडियन एक्सप्रेस' की रिपोर्ट से खुलासा हुआ है कि धीरे धीरे सेंट्रल डेटाबेस के एक्सेस को सेंट्रलाइज किया जा रहा है और ईआरओ, डीईओ और सीईओ को संपूर्ण व बिना शर्त एक्सेस नहीं मिल रही है। अगर इस खुलासे को कर्नाटक, बंगाल या दिल्ली की खबरों से मिला कर देखें तो यह संभव है कि योजनाबद्ध तरीके से मतदाताओं की प्रोफाइलिंग करके उनके नाम काटे जाने का बड़ा खुलासा हो।

साझा बैठक करने या आंदोलन करके ऑप्टिक्स बनाने से पहले कांग्रेस और दूसरी पार्टियों को बारीकी से तमाम गड़बड़ियों पर काम करने की जरूरत है। यह समय लेने और थका देने वाला काम है। लेकिन कांग्रेस और दूसरी विपक्षी पार्टियों के पास संसाधन की कमी नहीं है। अगर उनको लग रहा है कि एसआईआर के जरिए बहुत बड़ी कोई गड़बड़ी हो रही है तो उन्हें इसका खुलासा करने के लिए बड़े पैमाने पर ही काम करना होगा। अमेरिका के वाटरगेट स्कैंडल से लेकर भारत के बोफोर्स घोटाले तक जितने बड़े मामले खुले हैं उनमें लोगों को खपना पड़ा है। ऊपर ऊपर मुद्दे को छू देने और उस पर बयान देने से सरकार न तो जवाबदेह बनेगी और न आम जनता इसे गंभीरता से लेगी। जनता को यह दिखाना होगा कि विपक्ष या योगेंद्र यादव और प्रशांत भूषण जैसे सिविल सोसायटी के लोग क्या लेकर सरकार से लड़ रहे हैं।